श्रीमन्त सेठ सितावराय लक्ष्मीचन्द्र जैन साहित्योद्धारक
सिद्धान्त ग्रंथमालासे प्रकाशनाधिकार प्राप्त

जीवराज जैन ग्रंथमाला

(धवला - पुष्प १)

श्री भगवत्-पुष्पदन्त-भूतबलिप्रणीत:

षट्खंडागम:

वीरसेनाचार्य-विरचित-धवलाटीका-समन्वित:

तस्य

प्रथमखंडे जीवस्थाने

सत्प्ररूपणा

खंड - १ भाग १ पुस्तक - १

❊ ग्रंथसम्पादक: ❊

स्व. डॉ. हीरालालो जैन:

❊ सहसम्पादकौ ❊

स्व. पं. फूलचन्द्र: सिद्धान्तशास्त्री स्व. पं. बालचन्द्र: सिद्धान्तशास्त्री

❊ प्रकाशक: ❊

जैन संस्कृति संरक्षक संघ,
संतोष भवन, ७३४, फलटण गल्ली,
सोलापुर - २. फोन - (०२१७) ३२०००७

वीर निर्वाण संवत् २५२६ ई. सन २०००

विषय-सूची

※※※

1 Editorial 1-12

२ प्रकाशकीय १-२

३ संपादकीय ३-१४

४ आवश्यक निवेदन १५-२०

५ प्राक्कथन १-७

प्रस्तावना

षट्खंडागम परिचय (अंग्रेजीमें) i-iv

१ श्री धवलादि सिद्धांतोंके प्रकाशमें आनेका इतिहास १

२ हमारी आदर्श प्रतियां ५

३ पाठसंशोधनके नियम ८

४ षट्खंडागमके रचयिता ११

५ आचार्य परम्परा १८

६ वीर-निर्वाण-काल २८

७ षट्खंडागमकी टीका धवलाके रचयिता ३१

८ धवलासे पूर्वके टीकाकार ४०

९ धवलाकारके सन्मुख उपस्थित साहित्य ४७

१० षट्खंडागमका परिचय ५६

११ सत्प्ररूपणाका विषय ६७

१२ ग्रंथकी भाषा ७०

७८ उपसंहार ७८

टिप्पणियोमें उल्लिखित ग्रंथोंकी संकेत-सूची ८०

सत्प्ररूपणाकी विषय सूची ८२

मंगलाचरण

सत्प्ररूपणा (मूल, अनुवाद और टिप्पण) १-४१२

परिशिष्ट

१ संत-परूवणा-सुत्ताणि १

२ अवतरण-गाथा-सूची ९

३ ऐतिहासिक नाम-सूची १४

४ भौगोलिक नाम-सूची १५

५ ग्रंथ नामोल्लेख १६

६ वंश नामोल्लेख १६

७ प्रतियोंके पाठ-भेद १७

८ विशेष टिप्पण २४

९ शुद्धिपत्र २६

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

※※※※※

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

प्रकाशकीय

षट्खण्डागम धवल सिद्धान्त का प्रथम बार सम्पादन-प्रकाशन किस प्रकार प्रारम्भ हुआ इसकी पूरी जानकारी ग्रन्थराजके प्रथम संस्करणके प्रथम भागके प्राक् कथनसे प्राप्त हो जाती है और इसी हेतु से उसे इस द्वितीय संस्करणमें भी अविकल रूपसे सम्मिलित किया जा रहा है। इस आगमका प्रथम भाग सन् १९३६ में प्रकाशित हुआ और अन्तिम सोलहवाँ भाग १९५६ में। तत्पश्चात् सेठ **सिताबराय लक्ष्मीचन्द्र जैन साहित्योद्धारक** फंड के ट्रस्ट बोर्ड के सम्मुख यह प्रश्न उत्पन्न हुआ कि अब आगे इस योजना की कैसी व्यवस्था की जाय। पूरे प्रकाशनके बीस वर्षमें सम्पादन-प्रकाशनके सूत्रधार एकमात्र **स्व. डॉ. हीरालालजी जैन** थे। अब उनके सम्मुख ये समस्यायें थी कि एक तो ग्रंथराजके सोलह भागोंमें से आदि के कुछ भाग अलभ्य हो गये थे, किन्तु उनकी मांग बराबर बनी हुई थी। दूसरे इसी बीच मूडबिद्री की ताडपत्रीय प्रतियोंके फोटोग्राफ परमपूज्य चारित्रचक्रवर्ती श्री १०८ आचार्य शांतिसागर दि. जैन जिनवाणी जीर्णोद्धारक संस्था, फलटन, इस संस्थाद्वारा लिये जा चुके थे और वे फलटन(जिला, सोलापुर) के शास्त्र भण्डारमें विराजमान थे। तथा तीसरे डॉ. हीरालालजी चाहते थे कि इन आगम ग्रन्थोंको समुचित रूपसे नयी उपलब्धियोंके अनुसार संशोधित करते रहने और उन्हें जिज्ञासुओंको सदैव उपलभ्य बनाये रखने का स्थायी उत्तरदायित्व की दृष्टिसे किसी एक व्यक्ति पर आधारित न रखकर किसी ऐसी संस्थाको सोपा जाय जो सुदृढ नीव पर निर्मित हो और अपने उद्देश्योमें व्यावसायिक नहीं किन्तु धार्मिक सेवा-भावसे प्रेरित और संचालित हो। अतः उन्होंने अपने चिर-सहयोगी **डॉ. आदिनाथ नेमिनाथ** उपाध्ये के साथ इस समस्या पर सभी दृष्टियोंसे पूर्ण विचार कर यह निश्चय किया कि यह भार **ब्रह्मचारी जीवराज गौतमचन्द दोशी** द्वारा स्थापित जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर को सोपा जाय। तदनुसार उन्होंने दोनों ट्रस्ट बोर्डोंके अधिकारीयोंको अवगत कराया और हर्षका विषय है कि दोनोंने ही उनके सत्परामर्शको स्वीकार कर लिया। तथा निम्नलिखित अनुबन्धोंके साथ सिद्धान्त ग्रन्थोंकी भावी व्यवस्था जै. सं. संरक्षक संघको सौंप दी गयी–

१) सिद्धान्त ग्रन्थोंकी मुद्रित प्रतियोंका समस्त शेष स्टाक जै. सं. सं. संघ सोलापुरको सौंप दिया जाय।

२) श्रीमन्त लक्ष्मीचन्द्र जी द्वारा दान की गयी रकम के अतिरिक्त ग्रंथमाला पर जो कर्ज हो गया है और जो दि. ४–७–६० के दिन रु. १३९८० (तेरह हजार नौ सौ अस्सी) है वह जै. सं. सं. संघ सोलापुरसे प्राप्त कर चुका दिया जाय।

३) भविष्यमें प्रकाशित किये जानेवाले सिद्धान्तग्रन्थोंमें 'श्रीमन्त सेठ सिताबराय लक्ष्मीचन्द्र जैन साहित्योद्धारक सिद्धान्त ग्रन्थमाला' और मुख्य सम्पादक डॉ. हीरालाल जैन एवं सहसम्पादक डॉ. आ. ने. उपाध्ये के नाम मुखपृष्ठ पर अंकित रहेंगे। तथा प्रकाशक जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर रहेगा।

४) भविष्यमें इन सिद्धान्त ग्रंथोंके सम्पादन-प्रकाशन एवं विक्रयसे जो आय-व्यय होगा उसका उत्तरदायित्व जै. सं. सं. संघ, सोलापुर पर रहेगा।

५) इन सिद्धान्त ग्रन्थोंके जो प्रकाशन भविष्यमें होंगे उनकी दस-दस प्रतियां उक्त ट्रस्ट (श्री. राजेन्द्रकुमार जैन, द्वारा– सेठ सिताबराय लक्ष्मीचन्द्र जैन, सा. उ. फंड, विदिशा म. प्र.) को भेट स्वरूप भेजी जाय।

इन अनुबन्धोंको दोनों पक्षोंके ट्रस्ट बोर्डोंकी शीघ्र ही स्वीकृति प्राप्त हो गयी और तदनुसार ग्रंथों एवं मूल प्रति का मिलान प्रारम्भ भी हो गया।
मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

तभीसे जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, डॉ. हीरालाल जैन और डॉ. आ. ने. उपाध्ये के निर्देशनानुसार सिद्धान्त ग्रन्थका फलटनमें विराजमान ताडपत्रीय प्रतियोंके फोटोसे मिलान करा कर उनके प्रकाशनका प्रयत्न करता रहा है। किन्तु हमें खेद है कि इस कार्यके सम्पन्न करानेमें हमें बारह वर्ष लग गये तब कहीं यह प्रथम भाग तैयार होकर प्रकाशमें लाया जा रहा है। आशा है कार्यकी गुरूताको देखते हुये पाठक हमें क्षमा करेंगे।

हम स्व. डॉ. हीरालाल जैन और डॉ. आ. ने. उपाध्ये के विशेष अनुगृहीत हैं कि उन्होंने न केवल सम्पूर्ण ग्रन्थराजके प्रथम संस्करणके संपादन का आदि से अन्त तक निःस्वार्थ भावसे अपना सत्कर्तव्य निभाया, किन्तु वे उतनी ही तत्परता से इस द्वितीय संस्करणका भी उत्तरदायित्व झेलकर अपनी असाधारण दीर्घकालीन साहित्य-सेवा की परम्पराको अक्षुण्ण बनाए हुए हैं।

निवेदक
श्री. वालचन्द देवचन्द शाह
मंत्री,
जैन संस्कृति संरक्षक संघ,
संतोष भुवन, फलटन गल्ली,
सोलापुर (महाराष्ट्र)

दि. ३०-६-७३

सम्पादकीय

आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलीकृत षट्खण्डागम सूत्र और उनकी आचार्य वीरसेनकृत धवला टीकाका स्थान जैन साहित्यमें अद्वितीय है। इनकी ताडपत्रीय प्रतियाँ एकमात्र स्थान मूडबिद्रीके जैन भण्डारमें सुरक्षित थीं और वे शतियोंसे अध्ययन नहीं, किन्तु दर्शन-पूजनकी वस्तु बन गयी थीं। इस परमागम मानी जानेवाली महाकृतीकी प्रतिलिपियाँ किस प्रकार उक्त भण्डारसे बाहर निकली इसका भी एक रोमांचक इतिहास है जिसका परिचय इसके प्रथम संस्करणके प्रथम भागकी भूमिकामें दिया जा चुका है और वह प्रस्तुत संशोधित संस्करणमें भी अविकल रूपसे सम्मिलित है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

जब हमने सन् १९३८ ई. में भेलसा निवासी श्रीमन्त सेठ सिताबराय लक्ष्मीचन्द्रजीके दानके निमित्तसे इस परमागमके अध्ययन व संशोधन कार्यमें हाथ लगाया, तब समाजमें इसकी भिन्न भिन्न प्रतिक्रियायें उत्पन्न हुई। नयी पीढीके समझदार विद्वानोंने इसका हार्दिक स्वागत किया और कुछ पुराने पण्डितों और शास्त्रियों, जैसे स्व. पं. देवकीनन्दनजी शास्त्री, पं. हीरालालजी शास्त्री, पं. फुलचन्दजी शास्त्री और पं. बालचन्दजी शास्त्रीका हमें क्रियात्मक सहयोग प्राप्त हुआ। किन्तु विद्वानोंके एक वर्गने इसका कड़ा विरोध किया। कुछका अभिमत था कि षट्खण्डागम जैसे परमागमका मुद्रण कराना श्रुतकी अविनय है। यह भी मत व्यक्त किया गया कि ऐसे सिद्धान्त ग्रन्थोंको पढ़नेका भी अधिकार गृहस्थोंको नहीं है। वह केवल त्यागी मुनियोंके ही अधिकारकी बात है। कुछ विद्वानोंको यह भी सन्देह था कि क्या हमारे जैसे अंग्रेजी पढे-लिखे बाबुओं द्वारा ऐसी गहन सिद्धान्त रचनाका समझदारीसे संशोधन किया जा सकता है? इत्यादि। किन्तु जब इस विरोधके होते हुए भी हम और हमारे सहयोगी ग्रन्थके संशोधनमें दृढतासे प्रवृत्त हो गये और एक वर्षके भीतर ही उसका प्रथम भाग सत्प्ररूपणा प्रकाशित हो गया तब सभीको कुछ आश्चर्य सा हुआ। स्व. सि. पन्नालालजीके नेतृत्वमें अमरावतीकी जैन समाजने बडे समारोह पूर्वक उस प्रथम भागका उद्घाटन कराया। फिर तो इस ओर विद्वानोंकी ऐसी रुचि उत्पन्न हुई कि इन सिद्धान्त ग्रन्थोंके प्रकाशनकी होड़ सी मच गयी। शोलापुर निवासी स्व. पं. बन्शीधर शास्त्रीने भी अपने निजी मुद्रणालयसे इसका प्रकाशन प्रारम्भ किया। किन्तु वे दो-तीन भागोंके प्रकाशनसे आगे न बढ़ सके। कुछ काल पश्चात् जैन शास्त्रार्थ संघ मथुराकी ओरसे कषाय-प्राभृत (जय धवल सिद्धान्त) का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ, तथा भारतीय ज्ञानपीठकी ओरसे महाबंध (महाधवल सिद्धान्त) का प्रकाशन होने लगा। पीछे विदुषी सुमतिबाई शाहने सूत्रमात्र और उनके हिन्दी अनुवादका संस्करण प्रकाशित कराया, तथा पं. हीरालालजी शास्त्रीने कषाय-प्राभृत के चूर्णि सूत्रोंको सानुवाद प्रकाशित कराया। इस प्रकार जो धवल, जयधवल और महाधवल नामसे प्रसिद्ध सिद्धान्त ग्रन्थ शतियोंसे पूजाकी

बस्तु बने हुए थे वे समस्त जिज्ञासुओंके स्वाध्याय हेतु सुलभ हो गये । इसे जैन साहित्यके इतिहासमें एक विशेष उत्क्रान्तीकी संज्ञा दी जा सकती है ।

श्रीमन्त सेठ लक्ष्मीचन्दजी द्वारा संस्थापित जैन साहित्योद्धारक फंडसे समस्त षट्खण्डागम और उसकी टीकाका अनुवादादि सहित संशोधन–प्रकाशन १६ भागोंमें १९३६ ई. से १९५६ ई. तक २० वर्षोंमें पूर्ण हो गया । इसके अंतिम भाग छपनेसे पूर्व ही आदिके कुछ भागोंकी प्रतियां समाप्त हो गयीं थीं और पाठकोंसे उन्हें पुन: प्रकाशनकी मांग आने लगी थी । किन्तु सम्पादक मण्डलका यह निश्चय था कि जब तक एक बार पूरा ग्रन्थ प्रकाशित न हो जाये तब तक किसी भागके दुबारा प्रकाशनमें अपना समय व शक्ति न लगाये जायें । यह भी विचार था कि जब द्वितीय संस्करणमें हाथ लगाया जाये तब पाठका प्राचीन ताडपत्रीय प्रतियोंसे मिलान अवश्य करनेका प्रयत्न किया जाय । हमने प्रथम संस्करणमें जो पाठ प्रस्तुत किया वह गुप्त रूपसे ताडपत्रीय प्रतिकी कन्नड [illegible] गुप्त रूपसे बाहर आयीं प्रतिलिपियोंके आधारसे किया था । आदिसे ही हमारा ध्यान इस त्रुटिकी ओर था और हमने मूडबिद्रीके भट्टारक महाराजसे बार बार शुद्ध प्रकाशनमें सहायक होनेकी प्रार्थना भी की । किन्तु उनका रुख निषेधात्मक ही रहा । तथापि तृतीय भागके प्रकाशित होनेपर उनके भावोंमें एक विलक्षण परिवर्तन हुआ और उन्होंने हमें सूचित किया कि यदि हम चाहें तो वे ताडपत्रीय प्रतियोंसे पाठ मिलानकी सुविधा प्रदान कर सकते हैं । इसे हमने एक महान् पुण्योपलब्धि और वरदान ही समझा । ताडपत्रीय प्रतियोंकी लिपि हळेकन्नड (पुरानी कर्नाटककी लिपि) है, जिसके पढनेकी क्षमता इने–गिने विद्वानोंको थी । सौभाग्यसे हमें इस कार्य हेतु स्व. पं. लोकनाथ शास्त्रीका सहयोग प्राप्त हो गया और उनके द्वारा हमें वे पाठान्तर प्राप्त हुये जिनका समावेश तृतीय भागके एक परिशिष्टमें किया गया है । आगेके भागोंमें उनके द्वारा भेजे गये पाठान्तरोंका उपयोग मूलमें ही कर लिया गया ।

सम्पूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित होनेसे पूर्व ही एक और विवाद उठ खडा हुआ । प्रथम भागके सूत्र ९३ में जो पाठ हमें उपलब्ध था उसमें अर्थ-संगति की दृष्टिसे संजदासंजदके आगे संजदपद और जोडनेकी आवश्यकता प्रतीत हुई । किन्तु इससे फलित होनेवाली सैद्धान्तिक व्यवस्थाओंसे कुछ विद्वानोंके मन आलोडित हुए और वे संजद पदको वहां जोडना एक अनधिकार चेष्टा कहने लगे । इस पर बहुत बार मौखिक शास्त्रार्थ भी हुये और उत्तर–प्रत्युत्तर रूप लेखोंकी श्रृंखलायें भी चल पडी, जिनका संग्रह कुछ स्वतंत्र ग्रन्थोंमें प्रकाशित भी हुआ है । इसके मौलिक समाधान हेतु जब हमने ताडपत्रीय प्रतियोंके पाठकी सूक्ष्मतासे जांच कराई तब पता चला कि वहां की दोनों भिन्न प्रतियोंमें हमारा सुझाया संजद पद विद्यमान है । इससे दो बातें स्पष्ट हुईं– एक तो यह कि हमने जो पाठ–संशोधन किया है वह गंभीर चिंतन और समझदारी पर आधारित है और दूसरे यह कि मूल प्रतियोंसे पाठ–मिलान की आवश्यकता अब भी बनी हुई है, क्योंकि जो पाठान्तर मूडबिद्रीसे प्राप्त हुये थे और तृतीय भागके अंतमें समाविष्ट किये गये थे, उनमें हमें यह संशोधन नहीं मिला ।

इसी बीच बम्बईमें इस ग्रन्थको ताम्रपत्रोंपर अंकित करानेका भी आयोजन हुआ और वहां भी उक्त ९३ वें सूत्रमें संजद पद जोड़ने न जोड़नेके विषयपर विवाद उठ खडा हुआ, यद्यपि वहां भी ताडपत्रीय प्रतियोंमें उसके होनेकी पुष्टि प्राप्त हो चुकी थी। अब यह प्रयास किया गया कि मूडबिद्री भण्डारमें उपलम्य इन ग्रन्थोंकी सभी ताडपत्रीय प्रतियोंके फोटो-चित्र लिये जायें। यह कार्य भी शीघ्र सम्पन्न हो गया और वे सब फोटोग्राफ फलटनके शास्त्र भण्डारमें आ गये।

मार्गदर्शक : आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

सन् १९५९ में समस्त षट्खण्डागमका १६ भागोंमें प्रकाशन पूरा हो जाने पर सम्पादकोंको यह चिंता हुई कि अब आदिके जो अनेक भाग अनुपलम्य हो चुके हैं उनका उक्त फ़ोटो–चित्रोंसे मिलान कर अंतिम रूपसे संशोधित संस्करण तैयार करनेकी क्या व्यवस्था की जाय? बहुत सोच–विचारके पश्चात् यह निश्चय हुआ कि द्वितीय संस्करणका कार्यभार जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुरके आधीन किया जाय। हमने यह सुझाव श्रीमन्त सेठ लक्ष्मीचन्दजी व उनकी प्रबंध समितिके समक्ष प्रस्तुत किया और उन्होंने हमारे सुझावको सहर्ष स्वीकार कर लिया। इसके विषयमें भेलसा और शोलापुर की संस्थाओंके बीच जो समझोता हुआ उसका विवरण प्रकाशकीय वक्तव्यमें दिया गया है।

पंच णमोकार मंत्र

अभी अभी पण्णवणा–सुत्त का सुन्दर सम्पादन–प्रकाशन हुआ है (जैन आगम ग्रन्थमाला– ६, भाग १–२, श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई- २६, सन् १९६९ व १९७१)। यह ग्रन्थ अर्द्धमागधी उपांगोंकी एक महत्वपूर्ण रचना है जो विषय व शैली आदि दृष्टियोंसे षट्खण्डागम सूत्रसे बहुत कुछ समानता रखती है। इसके सम्पादक मुनि पुण्यविजयजी, पं. दलसुख मालवणिया और पं. अमृतलाल मोहनलाल भोजक द्वारा लिखित अंग्रेजी व गुजराती की सुविस्तृत प्रस्तावना बहुत महत्वपूर्ण है। इसमें आये दो प्रकरण प्रकृतोपयोगी होनेसे यहाँ उल्लेखनीय हैं। अंग्रेजी प्रस्तावनाके पृष्ठ २३५ आदिमें प्रज्ञापनाके मंगलाचरण व पंचनमस्कार मंत्रकी विवेचना की गयी है जिसका सारांश यह है कि प्राचीनतम जैन रचनाओंमें इस पूरे मंत्रका उल्लेख नहीं पाया जाता। पीछेके साहित्यमें इसका व्यापक प्रयोग पाया जाता है। तथापि उसके कर्तृत्वके विषयमें कहीं कोई स्पष्ट सूचना नहीं पायी जाती। किन्तु षट्खण्डागम सूत्रका प्रारम्भ इसी पंचनमस्कार मंत्रसे होता है और उसकी वीरसेन कृत धवला टीकासे यह संकेत मिलता है कि उसके आदि–कर्ता आचार्य पुष्पदन्त ही हैं। हम प्रस्तुत ग्रन्थके प्रथम सूत्रकी टीकाके आधारसे द्वितीय भागकी प्रस्तावनामें तथा अन्यत्र भी यह प्रतिपादन कर चुके हैं कि आचार्य वीरसेन स्वामीका निस्संदेह अभिप्राय यही है कि यह मंत्र षट्खण्डागम सूत्रका अभिन्न अंग है और उसके कर्ता आचार्य पुष्पदन्त ही हैं। टीकाकारने मंगलके दो भेद किये हैं– निबद्ध और अनिबद्ध और दोनोंके लक्षण इस प्रकार समझाये हैं कि जहाँ सूत्रकार अपने मंगलाचरणकी स्वयं रचना करता है वह निबद्ध मंगल कहलाता है और जहाँ अन्य द्वारा विरचित मंगलपाठ जोड़ दिया जाता है वह अनिबद्ध मंगल है। इसी भेदके कारण उन्होंने यहां प्रयुक्त पंचनमस्कार

मंत्रको निबद्ध मंगल माना है, तथा चतुर्थखण्ड वेदनाके आदिमें जो 'णमो जिणाणं' आदि लम्बा मंगलपाठ है उसे उन्होंने अनिबद्ध मंगल कहा है, क्योंकि, वह स्वयं प्रस्तुत सूत्रकार द्वारा रचित न होकर गौतम गणधर द्वारा विरचित है और उसीकी वहाँ पुनरावृत्ति की गयी है। इस प्रकार धवलाकार के अभिमतमें किसी शक-सन्देह का अवकाश नहीं है।

इस प्रसंग में एक बातका और स्पष्टीकरण उचित होगा। णमोकार मंत्रमें जो प्रथम पद 'णमो अरिहंताणं' आया है उसके स्थान पर कहीं 'अरहंताणं' पाठ भी पाया जाता है। और प्राकृत भाषाकी प्रकृति को ध्यानमें रखते हुए इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। किन्तु षट्खण्डागमके समान प्रज्ञापना सूत्रके आदि में भी यही पाठ 'अरिहंताणं' पाया जाता है, तथा उसके टीकाकार हरिभद्र और मलयगिरीने वही ग्रहण किया है। धवलाकार वीरसेन स्वामी तथा विशेषावश्यक भाष्यकारने यही पाठ लेकर उसकी निरुक्ति अनेक प्रकारसे समझायी है और उसीसे अंत में उन्होंने उसके संस्कृत रूपान्तर अर्हत् की भी व्याख्या की है। धवलाकार के मतसे 'अरि-हननाद् अरिहन्ता' रजोहननाद् वा अरिहन्ता, रहस्याभावाद् वा अरिहन्ता अतिशय-पूजार्हत्वाद् वा अर्हन्तः। इस प्रकार धवलाकारके सम्मुख तो विकल्पसे भी अरहंत पाठ नहीं है (षट्खंड भाग १ पृ. ४२ आदि)।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अतः दिगम्बर-श्वेताम्बर दीर्घकालीन सैद्धान्तिक परम्परा अरिहंताणं पाठके पक्ष में ही सिद्ध होती है। इसी मंगलके 'णमो आइरियाणं' में भी 'र्य' के स्थान पर रिय आदेश हुआ है और उसी प्रकार 'आर्य' का 'आरिय' तथा 'वर्ष' का 'वरिस' रूपान्तर होता है।

षट्खण्डागम और प्रज्ञापना सूत्र

पण्णवणासुत्त की प्रस्तावना का दूसरा प्रसंगोपयोगी प्रकरण पृष्ठ २२३ आदि पर प्रज्ञापना और षट्खण्डागम के तुलनात्मक विवेचन विषयक है। इसके अनुसार इन दोनों रचनाओं में बहुतसी महत्वपूर्ण समानतायें हैं। १) दोनों का विषय जीव और कर्मकी सैद्धान्तिक व्याख्या है। २) उनका मूल स्तोत्र बारहवाँ श्रुतांग दृष्टिवाद है। ३) उनकी रचना सूत्र-रूप है। ४) कहीं कहीं दोनों में ये सूत्र गाथात्मक भी हैं। ५) कुछ गाथायें दोनों में समान हैं जो निर्युक्तियों और विशेषावश्यक भाष्यादि में भी पायी जाती हैं। ६) दोनों रचनाएँ संग्रहात्मक हैं जिनमें समान शब्दावलि और उक्तियों का भी समावेश हुआ हैं। ७) दोनों के अल्प-बहुत्व प्रायः समान हैं और उन्हें महादण्डक कहा गया है। ८) गत्यागति प्रकरण में तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव और वासुदेव पदों की प्राप्ति का उल्लेख है। ९) प्रज्ञापना के कर्म, कर्मबंधक, कर्म-वेदक, वेद-बन्धक, वेद-वेदक और वेदना, ये छह पद (२३-२७ और ३५) षट्खण्डागमके छह खण्डों जीव-स्थान, क्षुद्रक-बन्ध, बन्ध-स्वामित्व, वेदना, वर्गणा और महाबन्ध का स्मरण कराते हैं। दोनों रचनाओंकी ये समानतायें निर्विवाद हैं और वे उनकी अर्थ एवं अभिव्यक्तिकी दृष्टिसे समान परम्परा की द्योतक हैं।

किन्तु इन समानताओंके होते हुए भी दोनों रचनाओंकी अपनी अपनी विशेषतायें भी अनेक हैं। जैसे १) प्रज्ञापना में ३६ पदसंज्ञक परिच्छेद हैं और उनके अवान्तर प्रज्ञापना, प्ररूपणा आदि विषयानुसार उपभेद किये गये हैं। किन्तु षट्खण्डागमके खण्ड पूर्वोक्त छह ही हैं, और उनके भीतर बहुतायतसे चौदह जीव-समासों (गुणस्थानों) व चौदह मार्गणा-स्थानोंके अनुक्रमसे विषय प्ररूपण किया गया है, जिनका प्रज्ञापना सूत्रमें सर्वथा अभाव है। २) प्रज्ञापना की रचना एक कर्ता की है, जबकि षट्खण्डागम की रचनामें पुष्पदन्त और भूतबलिका कर्तृत्व तो स्वीकार ही किया गया है, तथा उसकी अनेक चुलिकायें पीछे जोडी गयी अनुमान की जा सकती हैं, जैसे दशवैकालिक आदि आगम ग्रन्थोंमें पाया जाता है। ३) षट्खण्डागममें प्रतिपाद्य विषयोंका विवेचन प्रज्ञापना सूत्रकी अपेक्षा अधिक विस्तृत और गंभीर, सुव्यवस्थित व योजनाबद्ध है। ४) प्रज्ञापना सूत्रमें प्रश्नोत्तर शैलीका उपयोग षट्खण्डागमकी अपेक्षा अधिक है। ५) प्रज्ञापना सूत्रकी रचना शुद्ध सत्रात्मक है, जबकि षट्खण्डागममें बहुधा अनुयोगद्वारोंके निर्देश सहित टीकात्मक शैली भी पायी जाती है। यहां निर्युक्तियोंके समान नाम, स्थापना आदि निक्षेपोंके आश्रय से तत्त्वार्थसूत्र के समान सत्, संख्या आदि अनुयोगोंके द्वारा प्ररूपणा, निर्देश, विभाषा आदि जैसी संज्ञाओंके प्रयोग सहित भाष्य शैली अपनायी गयी है, तथा गति-अनुवादेन, इन्द्रियानुवादेन आदि स्पष्ट निर्देशोंका भी प्रयोग हुआ है। ६) षट्खण्डागम (भाग ७ सूत्र ७९) में महादण्डक नामसे अल्पबहुत्व अधिक व्यवस्थासे ७८ पदोंमें 'वत्तइस्सामो' 'कादव्वो' जैसे शब्दों सहित किया गया है, जबकि प्रज्ञापना सूत्रमें ऐसे शब्दोंके बिना वह ९८ पदोंमें अवान्तर भेदोपभेदों सहित शिथिलतासे हुआ है। ७) प्रज्ञापना सूत्रके स्थान-पद नामक द्वितीय पदमें जो जीवोंके क्षेत्रोंका वर्णन है वह शिथिलताके कारण बहुत लम्बा है, जबकि वही षट्खण्डागम (भाग ७ पृष्ठ २९९ आदि) में मार्गणा-स्थानोंके अनुक्रमसे सुगठित शैलीमें अपेक्षाकृत थोडेमें आ गया है। ८) प्रज्ञापना सूत्रमें अल्प-बहुत्व २६ द्वारोंसे प्ररूपित है, तथा उसमें जीव-अजीवका मिश्रण अव्यवस्थासे हुआ है। किन्तु षट्खण्डागममें वही १४ मार्गणाओंके द्वारा सुव्यवस्थित रूपसे आया है। प्रज्ञापना सूत्रके २६ द्वारोंमें गति इन्द्रिय आदि मार्गणाओंके नाम भी यत्र-तत्र आ गये हैं, किन्तु उसमें सुनिश्चित १४ मार्गणाओंका अभाव है। यही स्थिति स्पर्श, काल आदि प्ररूपणाओंकी है। ९) प्रज्ञापना सूत्रकी तीन गाथाएं (९९–१०१ पृ. २५) वे ही हैं जो षट्खण्डागम (भाग १४ के सूत्र १२२–१२४) में पायी जाती हैं। किन्तु भेद यह है कि षट्खण्डागममें वे 'लक्खणं भणिदं' के साथ प्रस्तुत की गयी हैं जिससे वे अन्यत्रसे उद्धृत सिद्ध होती हैं। इनके कुच्छ पाठ ऐसे भी हैं जो षट्खण्डागममें अशुद्ध और प्रज्ञापना सूत्रमें शुद्ध रूपमें हैं।

इन समानताओं और विशेषताओं पर विचार करते हुये प्रज्ञापना सूत्रकी प्रस्तावनाके लेखकोंने अपना यह अभिमत व्यक्त किया है कि एक ओर तो दोनों ग्रन्थोंकी सैद्धान्तिक परम्परा विषय और कुछ अंशमें रचना की दृष्टिसे अभिन्न है, किन्तु दूसरी ओर विषयके वर्गीकरण प्रतिपादन की शैली तथा व्यवस्था और विधान एवं पारिभाषिक शब्दावलि आदि की दृष्टिसे षट्खण्डागम की अपेक्षा प्रज्ञापना की रचना अधिक प्राचीन और पूर्ववर्ती प्रतीत होती

है। इसकी और भी परिपुष्टि हेतु उन्होंने दोनोंके रचनाकाल पर भी विचार किया है। षट्खण्डागमकी रचना का तो उन्होंने वही काल स्वीकृत कर लिया है जो उसके प्रथम भागकी प्रस्तावनामें अर्थात् वीर निर्वाणसे ६८३ वर्ष पश्चात् व विक्रम संवत् की द्वितीय शतीके लगभग निश्चित किया गया था। किन्तु प्रज्ञापना सूत्रकी रचना हेतु उन्हें वैसे निर्विवाद ऐतिहासिक तथ्य व प्रमाण नहीं मिले। अतः उसके लिये उन्हें कुछ शंकास्पद संकेतोंका आश्रय लेना पडा है जो इस प्रकार हैं–

१) प्रज्ञापना सुत्र के मंगलाचरण के पश्चात् दो ऐसी प्रक्षिप्त गाथायें पायी जाती हैं जिनमें अज्ज-साम (आर्य श्याम) को नमन करते हुए कहा गया है कि वे वाचक संघ के तेवीसमें पुरुष थे और उन्होंने श्रुतसागरसे निकालकर उत्तम श्रुत-रत्न प्रदान किया। इसपर से अनुमान किया गया है कि आर्य श्याम ही प्रज्ञापना सूत्रके कर्ता हैं।

२) पट्टावलियों की परम्परानुसार जो तीन कालकाचार्य हुए उनमें प्रथम कालक ही श्यामाचार्य थे।

३) धर्मसागरीय पट्टावलि में प्रथम कालक का मृत्यु तथा खरतर गच्छीय पट्टावलि में उनकी जन्म का समय वीर निर्वाण से ३७६ वर्ष पश्चात् माना गया है।

मुख्यतः इन तीन बातोंपरसे निश्कर्ष निकाला गया है कि प्रज्ञापना सूत्रकी रचना श्यामाचार्य द्वारा वीर निर्वाण की चतुर्थ शतीमें अर्थात् विक्रम संवत्से लगभग सौ वर्ष पूर्व और तद्नुसार षट्खण्डागम से लगभग तीन सौ वर्ष पूर्व हुई।

उक्त तर्कोंपर यहाँ विचार किया जाय। १) उन दोनों प्रक्षिप्त गाथाओंमें पण्णवणा सुत्त का नाम भी नहीं आया। जिस श्रुत-रत्नका दान श्यामाचार्यने दिया उससे किसी अन्य ग्रन्थ-रत्नका भी तो अभिप्राय हो सकता है। यदि हरिभद्राचार्यने भी इन गाथाओंकों प्रक्षिप्त कहकर टीका की है, तो इससे इतना मात्र सिद्ध हुआ कि उनके समय अर्थात् आठवीं शतीमें श्यामाचार्य की ख्याती हो चुकी थी। किन्तु उससे पूर्व कब व किसके द्वारा वे गाथायें जोडी गयीं इसके क्या प्रमाण हैं। उन गाथाओंमें श्यामाचार्यको वाचक वंशके तेइसवाँ पुरुष कहां है। यह वंश कब प्रारम्भ हुआ और उसकी तेइसवी पीढी कब पडी इसका लेखा–जोखा कहाँ है? उनसे पूर्व ग्रन्थकी अंगभूत गाथामें तो स्पष्ट कहा गया है कि पण्णवणाका उपदेश भगवान् जिनवरने भव्य जनोंकी निर्वृत्ति हेतु किया था, जब कि प्रक्षिप्त गाथाओंमें दुर्धर, धीर व समृद्ध-बुद्धि मुनि श्यामाचार्य द्वारा किसी अनिर्दिष्ट श्रुत-रत्नका दान अपने शिष्यगण को दिया गया। क्या प्रस्तुत ग्रन्थ के कर्तृत्व के विषय में मूल और प्रक्षेपकी मान्यता एक ही कही जा सकती है? २) पट्टावलियोंकी परम्परायें बहुत प्राचीन नहीं हैं। उनके रचनाकाल व प्रामाणिकतामें संदेह है। वे परस्पर विरोधी भी पायी जाती हैं। तीन कालकार्योंमें से श्यामाचार्यका किससे एकीकरण किया जाय इसकी भी उनमें स्पष्ट स्थापना नहीं पायी जाती। उन्हीं के आधार से तो डॉ. यू. पी. शाहने अपना यह अनिश्चियात्मक मत व्यक्त किया है (पृ. २३२) कि जिन श्यामाचार्यको

पट्टावलि में ग्यारहवें कहा है वे गर्दभिल्लके विनाशकर्ता कालकाचार्यसे अभिन्न हो जाते हैं और तब प्रथम और द्वितीय कालक भी एक हो जाते हैं, इत्यादि। इस प्रकार श्यामाचार्य का कालक से एकीकरण करके उनका काल-निर्णय करना बहुत कुछ अटकलबाजी ही है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

३) धर्मसागरीय और खरतरगच्छ पट्टावलियां कब बनी, किस आधारसे और उनके परस्पर विरोधका क्या कारण है, इन बातों का समुचित समाधान हुए विना उनमें निर्दिष्ट काल को कहाँ तक प्रामाणिक माना जाय और उनमें उल्लिखित कालक को श्यामाचार्यसे अभिन्न कैसे मान लिया जाय।

जहाँ तक आधार प्रस्तुत किये गये हैं, उनसे यह स्पष्ट नहीं होता कि कहाँ कालकाचार्य को प्रज्ञापनासूत्र का कर्ता कहा गया है। 'श्याम' और 'काल' दोनों शब्द एकार्थी हैं, इससे श्यामार्य – कालकाचार्य– यह समीकरण तुरंत स्फुरित होता है। परंतु अभ्यासपद्धति में यह ठीक नहीं लगता। हमें ऐसे प्रमाणों की जरूरत है जहाँ स्वतंत्र रूपसे श्यामार्य और कालकाचार्य दोनों प्रज्ञापन के कर्ता के रूप में निर्दिष्ट हैं। तदनंतर ही दोनोंका समीकरण होगा। तत्पश्चात् ही काल-निर्णय किया जा सकेगा।

वस्तुत: जैन साहित्यिक इतिहास के लिये यह एक महान् उपलब्धि होगी यदि किसी जैन ग्रन्थकी रचना विक्रम पूर्व द्वितीय या प्रथम शताब्दि की सिद्ध की जा सके। वर्तमान जैन प्राकृतसाहित्यमें ऐसी सिद्धि की क्षमता तो किसी भी रचनामें दिखाई नहीं देती, क्योंकि, उनकी भाषात्मक वृत्ति मध्य-भारतीय-भाषा (Middle Indo-Aryains) के प्रथम स्तर की नहीं पायी जाती, किन्तु द्वितीय स्तर की है जिसका प्रारम्भ विक्रम की द्वितीय शतीसे पूर्व हुआ ही नहीं था। उदाहरणार्थ, पण्णवणा सुत्त में आये 'लोए' (लोके) 'भयवया' (भगवता) 'सुय' (श्रुत) 'दिटिवाय' (दृष्टिवाद) 'ठिई' (स्थिति) 'वेयणा' (वेदना) आदि जैसे मध्यवर्ती व्यंजनोंका लोप और उनके स्थान पर य-श्रुतिके आदेश की प्रवृत्ति द्वितीय शतीसे पूर्व की प्राकृत भाषाओंमें नहीं मिलती। इन पूर्ववर्ती भाषाओंका स्वरूप हमें पालि त्रिपिटक, अशोक, खारवेल तथा सुंग और आंध्रवंशीय शिलालेखों एवं अश्वघोष के नाटकोंमें मिलता है जहाँ मध्यवर्ती व्यंजनोंके लोप की प्रवृत्ति का अभाव है। यह व्यंजन-लोप-वृत्ति दुसरी शतीके पश्चात् प्रारम्भ हुई और यही महाराष्ट्री प्राकृतका विशेष लक्षण बन गयी। इसी के जैन प्राकृत साहित्यमें प्रचुरतासे प्रयोगके कारण पिशेल आदि विद्वानोंने जैन प्राकृत रचनाओंकी भाषाओंको जैन महाराष्ट्री व जैन शौरसेनी की संज्ञा दी है। अत: इस भाषाविज्ञान के प्रकाश में पण्णवणा सुत्त की रचना को द्वितीय शतीसे पूर्व की कदापि स्वीकृत नहीं किया जा सकता।

जहाँ तक पण्णवणा के षट्खण्डागम से पूर्ववर्ती होने का प्रश्न है वह भी निस्सन्देहात्मक नहीं कहा जा सकता। दोनों रचनाओं में जो समानतायें हैं वे निर्विवाद रूप से सिद्ध करती हैं कि दोनों की मौलिक परम्परा एक ही है। यह बात केवल इन्हीं दो रचनाओंसे नहीं, किन्तु दिगम्बर-श्वेताम्बर सम्प्रदायों की समस्त सैद्धान्तिक (और उप सैद्धान्तिक) रचनाओं

से सिद्ध होती है। उनका प्राण एक है, किन्तु शरीर व अंग-रचना भिन्न है। इस संबंध में धवलाकार वीरसेनाचार्य का यह कथन ध्यान देने योग्य है कि (षट्खण्डागम भाग १ पृ. ६०) कर्ता दो प्रकार का होता है, अर्थ-कर्ता और ग्रंथ-कर्ता। प्रस्तुत षट्खण्डागम के अर्थ-कर्ता तो भगवान् महावीर ही हैं, किन्तु ग्रंथ-कर्ता गौतमादि मुनियों के अनुक्रम से पुष्पदन्त और भूतबलि आचार्य हैं, भगवान् महावीर के जिस उपदेश के आधारसे षट्खण्डागमकी रचना हुई उसीसे प्रज्ञापना सूत्र की। किन्तु साम्प्रदायिक परम्पराओंके अनुसार उनमें शैली व वर्गीकरणादि में भेद होना स्वाभाविक था। अनुबद्ध परम्परामें तो शैलीके विकासानुसार ग्रन्थोंके पूर्वापरत्व का कुछ अनुमान किया भी जा सकता है, किन्तु स्वतंत्र परम्पराओंमें यह अनुमान अनुपयुक्त पाया जाता है, और इस बातपर प्रज्ञापना सूत्रके सम्पादकोंने स्वयं भी बहुत जोर दिया है। वे कहते हैं (प्रस्ता. पृ. २३०).

The style of treatment i. e. its simplicity or otherwise, can not be a determining factor in fixing up the chronological order of these works. This is so because the nature of the style was dependent on the objective of the author and on the nature of the subject-matter, simple or subtle. Hence we would be making a great blunder in fixing up the chronological order of Prajnapana and Satkhandagama if we were guided only by the fact that the treatment of the subject-matter in the Satkhandagama is more detailed and subtle than that found in Prajnapana Sutra.

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

इसका अभिप्राय यह है कि प्रतिपादन शैलियोंकी सरलता और सूक्ष्मताके आधार मात्रसे किन्हीं रचनाओंके कालानुक्रमका निर्णय करना एक भारी भूल होगी, क्योंकि ये बातें तो ग्रन्थकारोंके अपने अपने लक्ष्य तथा प्रतिपाद्य विषयपर अवलंबित होती हैं, और यही बात प्रज्ञापना और षट्खण्डागमके विषयमें समझना चाहिये। यहां यह भी स्पष्ट कर देना अनुचित न होगा कि जहाँ श्वेताम्बर मुनि प्रधानतया अर्द्धमागधी आगमसे बंधे रहकर उसीके उद्धार, संग्रह, विस्तार आदि में लगे रहे, वहाँ दिगम्बर मुनियोंने मूल आगमको विलुप्त हुआ स्वीकार कर बहुत कुछ स्वतंत्रतासे नवीन शैलीके ग्रन्थोंका निर्माण किया। इसीके, जिसमें विद्वान् आचार्योंने अपनी प्रतिमाका उन्मुक्त भावसे उपयोग किया। परिणामस्वरूप धरसेनाचार्यसे परम्परागत सिद्धान्तका ज्ञान प्राप्त करके षट्खण्डागमके कर्ताओंने अपने बुद्धि-बलसे खारवेल से शिलालेखमें निबद्ध 'नमो अरहंतानं' 'नमो सव सिधानं' रूप द्विपदी मंगलको पंचपदी बनाकर प्रकट किया, ऐतिहासिक दृष्टीसे देखा जाय तो, विभिन्न स्थानोंमें भिन्न भिन्न विद्वान् मुनियोंके गणोंमें समय समयपर मंगलविस्तारके बारेमें ऐसे प्रयत्न अवश्य किये गये होंगे। जब हम चत्तारिदंडक का अवलोकन करते हैं तो वहाँ का मंगल चतुष्पद है। जब संघ व्यवस्था अच्छी बन गयी, तब 'साहु' शब्दकी व्याप्ति में आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधु आ गये होंगे। 'जीवकचिंतामणि' नामक प्राचीन तमिल जैन काव्यमें साधारणतया अपेक्षित पंचनमस्कारात्मक मंगलकी जगह ग्रंथके आरंभमें चत्तारि मंगलरूपी नमस्कार है। इसी प्रकार संभवत: उन्होंने ही प्रथम बार जीव-समास (गुणस्थान) मार्गणा-स्थान व विविध अनुयोगद्वारों आदिका आविष्कार कर उनके आधारसे विधिवत् सिद्धान्तका प्रतिपादन किया।

उनकी इन विधाओंका स्वभावतः आदिमें विरोध या उपेक्षा की गयी होगी किन्तु धीरे धीरे वेही विधायें, उनकी अधिक सुव्यवस्थाके कारण समस्त जैन सैद्धान्तिक जगत् पर छा गयी, और सर्वत्र स्वीकृत हो गई है। षट्खण्डागमके कर्ताओंने परम्परागत सिद्धान्तकी कोई भी बात किसी भी साम्प्रदायिक भेदभाव या पक्षपातके कारण छोडी नहीं, तथा उन्होंने परम्परागत उपयोगी गाथाओंको भी अपनी रचनामें यथोचित स्थान दिया। 'भणितं' आदि शब्दोंके उपयोग द्वारा यदि उन्होंने यह इंगित किया कि वह गाथा उनकी स्वनिर्मित नहीं है, किन्तु परंपरागत है तो यह उनकी साहित्यिक सच्चाई व ईमानदारी की परिचायक है। किन्तु यदि कोई अन्य लेखक इस वास्तविकताके सूचक संकेतोंको न देकर उसे अपनी मौलिक रचनाका अग्ररूप मान लेता है, तो वह इस प्रमाणसे पूर्ववर्ती नहीं माना जा सकता।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

आर्यश्यामका नाम निर्देश प्रक्षिप्त गाथाओंमे उपलब्ध होता हैं। वे प्रज्ञापनाके कर्ता (शब्दके सही अर्थमें) नही है, किंतु संग्रहकार हैं जिन्होंने परंपरागत विषयोंका संग्रह किया है। जब दोनों ग्रंथकार, षट्खंडागमके और प्रज्ञापनाके परंपरागत विषयोंका ही संग्रह करके निबद्ध कर रहे हैं, तब 'भणिदं' शब्दका कोई कालनिर्णायक मूल्य नहीं है।

प्रज्ञापनामें कई परंपरागत गाथाएँ हैं जो उत्तराध्ययन और निज्जुत्तियोंमें भी मिलते हैं। इनको संग्रहणी गाथा कहा गया है (देखिए– पं. मालवेनिया-प्रज्ञापना और षट्खण्डागमा, जे. ओ. आर. १९, पृ. २६ इ. बडोदा ११६९)। पारस्परिक कालनिर्णयमें इनका कोई प्रमाणरूपसे मूल्य नहीं हैं। यदि प्रज्ञापना उत्तराध्ययनसे उत्तरकालीन है, तो प्रज्ञापनाका समय अनिर्णीत रहता है। जिस रूपमें आज हमें उत्तराध्ययन मिलता है, उस ग्रंथकी रचना संपूर्णरूपसे ईसापूर्व तीसरी या चौथी शताब्दीमें हुई थी, यह हम नहीं कह सकते। जैनतत्त्वविषयक जो अध्याय हैं, जिनको ग्रंथके अंतमें एकत्रित किया गया है, विशेषतया २८ वां अध्याय, बहुत कुछ अर्वाचीन हैं और कई विद्वानोंके मतानुसार तत्त्वार्थसूत्रके समीपवर्ती कालके हैं।

(इस संदर्भमें यह भी ध्यानमें लेना चाहिये। आगमज्ञान परंपरा मुख्यतया मौखिकही था। यह परंपरा हस्तलिखितोंपर चलता था ऐसा मानकर अनुमान करना ठीक नहीं है।) यदि कोई गाथा एक ग्रंथमें दूसरे की अपेक्षा अधिक शुद्ध प्रतीत होती है तो वह लिपिकारोंकी सावधानी व असावधानीका परिणाम भी हो सकता है। उसे मूल ग्रंथकार महाविद्वान् आचार्योंकी भूल मानना नितान्त अनुचित होगा। यदि प्रज्ञापनामें पाठविशेष शुद्ध है, किंतु षट्खण्डागममें अशुद्ध है तो इससे अवश्य यह अनुमान होना चाहिए कि प्रज्ञापनासे यह पाठ षट्खण्डागममें नहीं किया गया है।

उपर्युक्त समस्त विवेचनका तात्पर्य यह है कि हमें अबतक ऐसा कोई प्रमाण हाथ नहीं लगा जिसके आधारसे यह कहा जा सके कि प्रज्ञापना सूत्रकी रचना षट्खण्डागमसे पूर्वकालीन है। षट्खण्डागम वीर निर्वाणके ६८३ वर्ष पश्चात् अर्थात् विक्रम संवत् २०० के लगभगकी सिद्ध है, और वह सर्वसामान्य हो चुकी है। गिरनार व जुनागढके समीप बाबा

ध्यारा नामक गुफाओंमें जो शिलालेखादि मिले उनसे भी यही सिद्ध हुआ है कि वह सामग्री पूर्वोक्त कालकी ही है और संभवतः वही वह चन्द्रगुफा है जहाँ धरसेनाचार्य निवास करते थे। तथा जिस मुनिके [illegible] संकेत है वे धरसेन ही थे।

इसके विपरीत प्रज्ञापना सूत्रके कर्ता और कालके विषयमें अभी भी निश्चय पूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। षट्खण्डागमकी परम्पराके आचार्योंको तो उसके नाम तक की कोई जानकारी नहीं प्रतीत होती; क्योंकि, यदि होती तो धवलाकार वीरसेनने जहाँ द्वादश अंगों और चौदह अंग बाह्य ग्रन्थों, जैसे दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्प, व्यवहार, निशीथ आदि का उल्लेख किया है (षट्खण्डागम भाग १ पृ. ९६) वैसे पण्णवणा सदृश महत्वपूर्ण रचना को वे कैसे भूल सकते थे? भाषाशास्त्रके अनुसार वह रचना विक्रमसे पूर्व द्वितीय-तृतीय शती की तो हो ही नहीं सकती, विक्रम संवत् की दूसरी-तीसरी शतीसे पूर्व की भी नहीं मानी जा सकती। यह भी निर्देश किया जाय कि षट्खण्डागममें स्वरमध्य क, त का प्रायः ग, द होने की प्रवृत्ति है, न तो लोप होने की। भाषाशास्त्रज्ञोंके मतमें यह लोप-प्रवृत्ति का पूर्वस्तर है। निश्चित रूपसे तो केवल इतनाही कहा जा सकता है कि वह उसके सर्व प्रथम टीकाकार हरिभद्र (विक्रम की नवी शती) से पूर्वकालीन है। और यदि उसके नन्दिसूत्रमें उल्लेख होनेके कारण वलभी वाचनासे पूर्वत्व सिद्ध होता हो, तो वह वीर निर्वाण संवत् ६६३ (वि. सं. ९९३) से पूर्वकालीन मानी जा सकती है। और एक प्रश्नका उत्तर देना आवश्यक है। वह यह है कि प्रज्ञापना को, जो संपादकोंके अनुसार विषयकी दृष्टि से इतना महत्वपूर्ण है और कालकी दृष्टि से इतना प्राचीन है, उपांगोंके अंतर्गत क्यों विभाजित किया गया है? उपांग विभाग अर्वाचीन है और अंगोंसे उसका संबंध कृत्रिम है। उपांग विभाजन संभवतः वलभीवाचनानंतर ही अस्तित्वमें आ गया है और जो विषय अंगमें ग्रथित नहीं हो सके, ऐसेही विषय उपांगोंमें विद्यमान हैं। आर्य श्यामने जो संग्रह किया गया है, वह सापेक्षतः अव्यवस्थित और कहीं कहीं अपूर्ण सा लगता हैं, इसका कारण बहुत हद तक यही है। मतलब यह है कि संग्रह करते समय सब विषयोंका चिन्तन अपनीही तरफसे उन्होंने नहीं किया है।

संक्षेपमें यह ही कहना पडता है कि प्रज्ञापनामें कुछ प्राचीन अंश है, किंतु वे व्यवस्थित रूपमें नहीं रहे हैं। उसका प्रस्तुत स्वरूप वलभी वाचना या सम्मेलनके पूर्वकालीन नहीं है। वलभी सम्मेलनमें उसे 'उपांग' के रूपमें रक्खा गया और प्रक्षिप्त गाथाओ में उसके तथाकथित कर्ताका नाम आया है।

प्रस्तुत भाग के संशोधन का विवरण पं. फुलचन्द जी सिद्धान्त शास्त्री ने अपने 'आवश्यक निवेदन' में प्रस्तुत किया है। पंडितजी ने इस कार्य में जो परिश्रम किया है उसके लिये हम बहुत कृतज्ञ हैं। उन्होंने पाठ-संशोधन की जो तालिका दी है उससे स्पष्ट है कि यह संशोधन पूर्ण सावधानीसे किया है जिससे हम कह सकते हैं कि अब उक्त ताडपत्रीय प्रतियोंकी वह अनिवार्यता नहीं रही। विशेष संतोष की बात यह है कि जिस साधन-सामग्री परसे प्रथम संस्करण तैयार किया गया था, उसे देखते हुये जितनी जैसी अशुद्धियोंकी हमें आशंका थी वैसी

नहीं मिली। आश्चर्य यह नहीं है कि कुछ महत्वपूर्ण पाठान्तर मिले, किन्तु आश्चर्य यह है कि उनसे पूर्ण संस्करणमें बैठायी गयी अर्थ-संगति सुव्यवस्थित ही सिद्ध हुई है। हमें आशा है कि अब शीघ्र ही अन्य मार्गोंके भी संशोधित संस्करण क्रमसे तैयार कर प्रकाशित किये जा सकेंगे। इस आशाका बडा भारी आधार यह है कि संस्कृति संघके सचिव श्री. वालचन्द देवचन्दजी शाह तथा उनके सहयोगी सदस्य इस विषयमें खूब रुचि रखते हैं और सब प्रकारसे अपना अधिकतम सहयोग प्रदान कर रहे हैं।

दिवंगत श्री. एन्. चंद्रराजने ताडपत्र हस्तलिखित प्रतियोंकी फोटोके आधारपर पाठान्तरोंका संग्रह किया था। इस पठन कार्यमें उनको विशेष प्रशिक्षण दिया गया था। इस कार्यमें हस्त प्रतियोंमेंसे एक के पाठान्तर लिख लेनेमें पं. बालचन्द शास्त्री व प्रा. जे. डी. भोमाज ने सहायता की है। श्री. चंद्रराजके मूल फोटो प्रतियोंको पढते समय प्रा. भोमाज पाठ लिख लेते थे। इस संपुटके मुद्रण तथा प्रूफ संशोधनके कार्यमें प्रा. भोमाज और श्री. नरेंद्र भिसीकर का अमूल्य सहयोग उपलब्ध हुआ है। उन सब सज्जनोंका हम बहुत आभार मानते हैं।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

सम्पादक,

हीरालाल जैन

आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये

बालाघाट (म. प्र.)
ता. २४-११-१९७२

पश्चलेख

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

डॉ. हीरालालजी [illegible] सिद्धांतग्रंथोंके अध्ययन के प्रति महान् आघात है। षट्खण्डागमका, धवला टीकासहित, सोलह खंडोंमें प्रकाशन तो उनकी महान् साधना का एवं उनके पांडित्य, स्वार्थत्याग, सेवा मनोधर्म तथ। अविरत श्रमका खास द्योतक है। पिछले कुछ महीनोंसे षट्खण्डागम के प्रथम खंड के पुर्नविमर्शित संस्करणके प्रस्तावनाके कुछ पहलुओंपर हम टिप्पणियोंका परस्पर विनिमय करते आ रहे थे। उन्होंने २४–११–७२ को मेरे यहाँ अपने हिंदी प्रारूप भेजा और प्रार्थना की कि आवश्यक सुधार के साथ उसका अंग्रेजीमें अनुवाद करा दे। जहाँ तहाँ अपनी ओरसे कुछ जोडकर मैंने अंग्रेजी प्रारूप तैयार किया। दिनांक २२–२–७३ को मैंने आवश्यक सुधार के साथ अनुमोदन करनेके लिए प्रारूपको उनकी सेवामें भेजा। जहाँ तहाँ पर की गयी सुधारोंसे ऐसा लगता है कि उन्होंने उसके कुछ पृष्ठ अवश्य पढे होंगे। उनके पुत्र श्री. प्रि. प्रफुल्लकुमार मोदीने मुझे यह लिखा (७–३–७३) कि डॉक्टरोंने कुछ सप्ताहतक पूरी तरह आराम करनेके लिए उनको सूचना दी है। हालहीमें मोतिबिंदु के कारण उनकी दूसरी आँखकी शस्त्रचिकित्सा हुई थी। हृद्रोग से तो वे त्रस्त थे, और साथ साथ मधुमेह भी उनको सता रहा था। उनके प्रवृत्ति पर और उनके असाधारण मनोधैर्यपर मुझे पूरा विश्वास था कि वे बहुत जल्दी ठीक हो जाएँगे और हमारी प्रस्तावना पूरी हो जाएगी। अपने बिघडे हुए स्वास्थ्यकी परवाह किये बिना, डॉक्टरोंकी सलाहोंके बावजूद, उन्होंने लगातार अपने जीभर काम किया है। किसी अच्छे उद्देश की पूर्तिमें जीवन व्यतीत करें तो वही सही जीवन है उनकी तो यही धारणा थी। ऐसे भार को बहुत समयतक उनका शरीर सह नहीं पाया। १३–३–७३ को ऐसे धैर्यशील या लढाऊ विद्वान्का अंत चुपचाप आ टकरा। साहित्य विविध क्षेत्रोंमें गत चालीस वर्षोंसे निरंतर चला आया हमारे सहयोगी परिश्रम का इस तरह अंत हो गया। डॉ. हीरालालजी मेरे अत्यंत सौजन्यशील सहयोगी और कल्याण-मित्र रहे, यही मेरा सौभाग्य है। मुझे ऐसा लगता है कि मैं अपने एक बडे भाई को इस समय खो बैठा हूँ। अप्रेल के दूसरे हफ्तेमें इस प्रस्तावना का प्रारूप उनके पुत्र की ओर से मुझे लौटाया गया। मुझे खेद है कि डॉ. हीरालालजी उसका पूरी तरहसे सुधार न कर पाये। प्रथम खंडके प्रकाशन में उनकी जो सूचनाएँ और मार्गदर्शन मुझे पूरी तरह से मिले, वे सौलभ्य दुरदृष्टवशात् आनेवाले खंडोंको नहीं मिल सकते। प्रलेखोंके आधार पर उन्होंने प्रकाशकीय का प्रारूप तैयार कर दिनांक ६–१०–७२ को शोलापुर कार्यालय भेजा था। प्रस्तावनाके अंतमें हम दोनोंके हस्ताक्षर है। इसीलिए कि परस्पर चर्चा के बाद २४–११–७२ को (बालाघाट, मध्यप्रदेश) डॉ. हीरालालजीने उसका अनुमोदन किया था। परंतु मुझे बहुत खेद है कि इस पश्चलेख पर मुझे अकेले को ही हस्ताक्षर करना पड रहा है। बडी सद्भावना से मैं यह विश्वास रखता हूँ कि उनकी दिवंगत आत्मा को चिरशांति और सुख मिले।

मानसगंगोत्री
म्हैसूर ५७०००६
दिनांक २, मई, १९७३

आ. ने. उपाध्ये

आवश्यक निवेदन

जीवस्थान षट्खण्डागमका प्रथम खण्ड है। उसका प्रथम अनुयोगद्वार सत्प्ररूपणा है। उसकी प्रथम पुस्तक का अमरावती कारंजा और आरा की हस्तलिखित प्रतियोके आधारसे सम्पादन होकर इ. स. १९३९ मे प्रकाशन हुआ था। उस समय मूडबिद्रीके सिद्धांतमंदिरमें स्थित ताडपत्रीय प्रतियाँ अनुपलब्ध थी। प्रसन्नता है कि पुनः इसके संशोधनके समय सोलापुर स्थित श्री जीवराज जैन ग्रंथमाला के यशस्वी मंत्री काका श्री. वालचंद देवचंदजी शहा इनके सत्प्रयत्नसे उनके फोटो प्रिंट उपलब्ध हो गये हैं। उन्होंने इन्हे एन्लार्ज भी करा लिया है। साथ ही श्री. पं. बालचंदजी शास्त्री और श्री. प्रो. जिनेंद्रकुमार भोमाज को नियुक्त कर मुद्रित प्रतियोंको सामने रखकर उनके पाठभेद भी लिखवा लिये है।

किन्तु जब जीवराज जैन ग्रंथमालाने षट्खण्डागम धवलाकी अनुपलब्ध प्रथम छह पुस्तकोंको पुनः प्रकाशन का निर्णय कर उक्त पाठभेदोंके आधारसे उनके संशोधनका कार्य मुझे
मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज
सौंपा तब सत्प्ररूपणा प्रथम पुस्तक का संशोधन करते समय मुझ यह अनुभव हुआ कि केवल इन पाठभेदोंके आधारसे संशोधन करना इसलिए पर्याप्त न होगा, क्योंकि, मात्र उन पाठभेदोंके आधारसे विचार करते हुए मुद्रित प्रतीमें ऐसे प्रचुर स्थल सन्देहास्पद रह जाते है जिनके लिए फोटो प्रिंटसे मिलान करना उपयोगी होगा। जब मैंने अपना यह दृष्टिकोण काका श्री. वालचंद देवचंदजी शहाके सामने रखा तब उन्होंने डॉ. ए. एन्. उपाध्येजी से परामर्ष कर फोटो प्रिंटोंसे मिलान की सब व्यवस्था करते हुए स्व. श्री. पं. एन्. चंद्रराजेंद्र शास्त्री को इस कार्यमें मेरी सहायता करने के लिये नियुक्त कर दिया।

षट्खण्डागम धवला और कषाय प्राभृत जयधवला की ताडपत्रीय सब प्रतियाँ हळे कानडी लिपिमें लिपिबद्ध हुई है। स्व. श्री. पं. एन्. चंद्रराजेंद्र शास्त्री को इस लिपीके पढनेका अच्छा अभ्यास था। वे बडी सुगमता से उन्हें पढते थे। अतः उनकी सहायतासे मैंने सत्प्ररूपणा प्रथम पुस्तक का अच्छी तरह सर्वांग मिलान किया। इससे शंकास्पद स्थलोंको ठीक करनेमें बडी सहायता मिली। अब स्व. श्री. एन्. चंद्रराजेंद्र शास्त्री हमारे बीच नही है। असमयमें उनका वियोग एक अनहोनी घटना है। जब तक यह संशोधन का कार्य चलेगा उनकी याद बराबर आती रहेगी। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि मूडबिद्रीमें षट्खण्डागम धवला की ताडपत्रीय तीन प्रतियाँ है। उनमेंसे एक प्रति अधूरी प्रतीत होती है। शेष दो प्रतियां पूर्ण हैं। इतना अवश्य है कि बीचबीचमें उनके भी अनेक पत्र नष्ट हो गये हैं, और कहीं कहीं एकादा वाक्य वा कुछ अक्षर त्रुटित हो गये है। फिर भी उक्त दोनो प्रतियोंके फोटो प्रिंटोंके आधारसे ग्रंथके सन्दर्भ के मिलानमें कठिनाई नही जाती। ऐसे कुछ ही स्थल शेष रहते है जो त्रुटित रह जाते हैं। मैंने अपना यह अनुभव सत्प्ररूपणा प्रथम पुस्तक और द्वितीय पुस्तक के मिलानके आधारसे लिखा है। संभव है कि आगे कुछ ऐसे स्थल भी हो जो सभी प्रतियोंमें न होनेसे उपलब्ध न किये जा सके।

इन तीन प्रतियोंमें से एकका संकेताक्षर 'अ' है। लगता है यह सबसे प्राचीन होनी चाहिये, क्योंकि, अन्य दो प्रतियोंमें उद्धृत रूपसे जो कतिपय अधिक गाथाएँ पाई जाती हैं वे उसमें नही हैं। शेष दो प्रतियाँ उसके बाद लिपिबद्ध की गई जान पडती हैं। उनमेंसे खंडित प्रति का संकेत अक्षर 'क' है और तीसरी पूर्ण प्रति का संकेत अक्षर 'ब' है।

प्रथम संस्करण से इस संस्करणमें पाठभेदोंकी दृष्टि से पर्याप्त संशोधन हुआ है। यद्यपि प्रथम संस्करण से इस संस्करणमें जहाँ जहाँ पाठोंका संशोधन किया गया उन संशोधित पाठोंको मूलमें स्वीकार कर प्रथम संस्करणके पाठोंको 'मु' इस संकेताक्षरके साथ पादटिप्पणोंमें दे दिया गया है। तथापि पाठकोंको संशोधन की विशेषता का ज्ञान करानेके अभिप्रायसे उनमें कई दृष्टियोंसे अनेक उपयोगी संशोधित पाठोंकी मालिका यहाँ दी जाती है–

पृ.	पं.	प्रथम संस्करण	पृ.	पं.	द्वितीय संस्करण
१	१	अप्पुत्थं	१	१	अप्पत्थ
१३	२	साहपसाहा	१३	२	साहुपसाहा
१५	५	सुकुक्खि	१५	५	सुक्कुक्खि
१६	९	णियतवाचय	१६	८–९	णियतव्वाचय
३२	१	किमिति	३३	३	किमर्थमिति
३२	५	दहति	३३	७	घातयति दहति
३६	२	सर्वोद्यम्	३७	१	सर्वाद्धा
३८	२	मङ्गलम्। तन्न	३९	२	मङ्गलत्वम्। न
३९	१०	मंगल-फलं-देहिंतो कय अब्भुदयणिस्सेयससुहाइत्तं	४०	१०	मंगलफलं अब्भुदयणिस्सेयस सुहाइ। तं
४०	३	वि णमो सुत्तं	४१	२	इणमो सुत्तं
४१	५	तच्च	४२	५	तं च
४१	६	बिबद्ध देवदा	४२	६	कय-देवदा
४१	७	कय-देवदा	४२	७	ण णिबद्धो
५२	८	रत्नाभोगस्य	५३	८	रत्नभागस्य
६७	१	धारया	६८	१	धरा य
६७	५	धरसेण	६७	५	धरसेणाइरिय
८१	९–१०	जाणुग	८२	८	जाणय
८१	१०	सरीरं च भवियं	८१	८	सरीरं भवियं
८३	११	द्रोष्यत्य	८४	१०–११	द्रवति द्रोष्यत्य
९१	१	एवम्भूते	९२	१	एवम्भेदे
९२	४	जणिदोहवग्गहे	९३	५	जणिदोग्गहे
९६	९	णिसिहियं	९७	९	णिसीहियं

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

पृ.	पं.	प्रथम संस्करण	पृ.	पं.	द्वितीय संस्करण
१०२	१	धम्मदेसणं	१०३	१	धम्मुवदेसणं
११०	३	वेस्याणं वस्सा	१११	४	वेश्यावंसा
११०	१	अवलेव ओ	१११	९	अलेवओ
११२	१	मत्थिणिद्देस्सो	११३	१	मत्थणिद्देसो
१२२	१	वत्थूहं	१२३	१	वत्थूणं
१२३	१०	वज्झए	१२४	१०	बुज्झए
१२८	८	मछंद्दत्ता	१२९	८	मछडंता
१३०	१०	उत्तपयडि	१३१	१०	उत्ता पयडि
१३४	२	परिहृतमिति	१३५	३	परिहृत्य किमिति
१३५	३	सिद्ध	१३६	३	सिद्धि
१३६	५	नीतिनियमिते	१३७	५	'नि' नियमिते
१५७	३	पडिवज्जतिदि	१५८	३	पढिज्जदीदि
१६३	१	जहमसहणं	१६४	१	जमसद्दहणं
१७१	१	सिथिल	१७२	१०	सिढिल
१७५	२	नान्यतरेण	१७६	४	तान्यन्तरेण
१९४	६	सहार्षाव	१९५	६	सहास्यार्षाव
१९६	७	विच्छेदस्यार्थ	१९७	८	विच्छेदः स्यात्, अर्थ
१९७	५	भावेनैकत्वे	१९८	६	भागेनैकत्वे
२०१	३	सिद्धगदी	२०२	५	सिद्धिगदी
२०४	२	"	२०५	२	"
२१३	३	असंखेज्जाए गुणसेढीए	२१४	३	मसंखेज्जगुणाए सेढीए
२१८	३	कम्माणुसारी	२१९	१	कमाणुसारी
२२०	७	घादत्तबंघोसरण	२२१	७	घादतब्बंघोसरण
२२१	३	व छद्दमाणेसु	२२१	८	अछंडमाणी सु
२२१	४–५	तदो तव्वयणाणं	२२१	११	तदो ण तव्वयणाणं
२२१	५	आइल्लु	२२१	१२	आइल्ल
२२१	६	इदि । आइरिय	२२२	१	इदि । आइल्लाइरिय
२२२	४	णिवट्टत्ति	२२३	१	फिट्टदि त्ति
२३२	१	वृत्तेः	२३४	७	वृत्तिः
२४५	७	वष्टम्भाच्चक्षुः । अनेकार्थ	२४७	५	वष्टम्भाच्चष्टेरनेकार्थ
२५१	१	तत्प्रतिघातः	२५३	५	तदप्रतिघातः
२५९	६	संज्ञिनः इति	२६१	११	संज्ञिनः, अमनस्का असंज्ञिन इति ।

पृ.	पं.	प्रथम संस्करण	पृ.	पं.	द्वितीय संस्करण
२६९	२	स्यासंभवः	२७१	१	स्वस्य संभवः
२७९	४	योगनिरोधात्	२८१	५	योगविरोधात्
२९३	१	पूर्वायु	२९५	५	छिन्नपूर्वायुषा
२९४	४	न पुनरस्यार्थः	२९५	५	न पुनरस्यषः
२९७	९	ऋद्धेरुपर्यभावात्	२९९	९	ऋद्धेरुपर्यृध्द्यभावात्
३१२	७	षट् पर्याप्तयो	३१४	७	षडपर्याप्तयो
३१८	८	संजदासंजद ट्ठाणे	३२१	१	संजदासंजद-संजद-ट्ठाणे
३२१	४–५	जादि जादि जादि	३१३	४–५	जंति जंति जंति
,,	६	पुनर्मरणं	,,	७	पुनरमरणं
३३२	८	संजदासंजद-ट्ठाणे	३३४	८	संजदासंजद-संजद-ट्ठाणे
३३७	४	विकलेन्द्रिय	३३९	४	विकलैकेन्द्रिय
३३८	३	शान्ततत्संतानानां	३४०	३	शान्तान्तस्संतानानां
३४०		वेदश्च स्त्रीवेदः।	३४२	१०	स एषामस्तीति स्त्रीवेदाः।
३४१		-वदनुगत	३४३	३	वदनवगत
,,		जीवस्य कर्तृत्वात्	,,	६	जीवस्य तस्य तत्कर्तृत्वात्
,,		पुमान्नपुंसकमुभयो०	,,	[illegible]	पुमान्नपुंसकं, उभया०
३४२		इट्ठावाग	३४४	२	इट्ठावाग-
,,		तणिट्ठवागग्गि	,,	५	तणिट्ठवागग्गि-
३४४		विषयाभिलाषे	३४६	३	विषयाभिलाषा
३४५		स्तेन विकाराभावात्	३४७	२	तेनाधिकाराभावात्
,,		कथमवसीयत	,,	५	कुतोऽवसीयत
,,		वेदादपि	,,	७	वेदावपि
,,		सन्तापान्यूनतया	,,	,,	सन्तापात् न्यूनतया
३४६		कषाय	३४८	७	पर्यायत्वात् कषाय०
३४७		तथोक्तं	३४९	१	तथोक्तेः।
,,		अत्रतन च शब्दः	,,	१०	अत्रतनः चशब्दो
३४८		भिन्नं तन्निर्देशो	३५०	१०	भिन्नस्तन्निर्देशो
३६०		भेयं च	३६२	१	भेयगयं
३६८		पुनः सयोग	३७०	१	पुनः स सयोग
३७०		नयादेशना	३७२	४–५	नयदेशना
,,		देशेनानु०	,,	६	देशनानु०
३७४		स्थानानां संख्या	३७६	१	स्थानसंख्या
,,		पेक्षया न, तत्र	,,	६	पेक्षया च तत्र

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

पृ.	पं.	प्रथम संस्करण	पृ.	पं.	द्वितीय संस्करण
३७५		ष्टात्संयमो	३७७	७	ष्टात्स संयमो
३७७		नावेवाभविष्यतां	३७९	३	नावभविष्यतां
३७९		विधेः	३८१	४	विधिः
,,		तद्धि ग्रहणं	३८१	५	तद्विधिग्रहणं
३८१		विशिष्टार्थः	३८३	१	विशिष्टोऽर्थः
,,		सावार्याभावे आवारकस्या		४	आवार्याभावे आवारकस्या
३८३		दृष्टान्त	३८५	८	दृष्टार्थ
,,		सञ्जननात्	,,	९	सञ्जनात्
३९०		पूजणिरदो	३९२	२	पूजण-रदो
३९१		पाठो नास्ति	३९३	६	शुक्ललेश्याध्वानप्रतिपादनार्थमाह–
३९२		रनन्तस्यापेक्षया तद्‌द्वित्र्यादि	३९४	१०	रनन्तस्यापि क्षयः, द्वित्र्यादि

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

ये कतिपय महत्त्वके पाठभेद हैं। जिनका यहाँ निर्देश किया है। इनमेंसे कतिपय पाठभेदोंको ध्यानमें रखकर अर्थमें भी परिवर्तन किया गया है। इससे समग्र ग्रंथ लगभग शुद्ध हो गया है। पंचनमस्कारस्वरूप प्रथम मंगलसूत्र प्रातःस्मरणीय भगवान् आचार्य पुष्पदंत की अमर कृति है। वह सर्वार्थसाधक है। अ. और ब. प्रतिमें वह 'णमो अरहंताणं' इत्यादि रूपसे लिपिबद्ध हुआ है। तदनुसार संशोधन करते समय मैंने यही पाठ स्वीकार कर लिया था। किन्तु मुद्रणके समय इसे बदल दिया गया है।

इस संस्करणके मुद्रण का पूरा भार श्री. पं. नरेन्द्रकुमार भिसीकर (न्यायतीर्थ) इनके ऊपर है। प्रूफ रीडिंग आदिका सब कार्य वे और प्रा. जिनेंद्रकुमार भोमाज देखते हैं। वे सरल स्वभावी, व्युत्पन्न और तत्त्वनिष्ठ विद्वान् हैं। उन्होंने इस कार्य को अच्छी तरह सम्पन्न किया। इसके लिये मैं उनका विशेष आभारी हूं।

श्रीयुत पं. हीरालालजी सिद्धान्तशास्त्री का षट्खण्डागम धवलाके संपादनमें प्रारंभमें पूरा सहयोग रहा है। उन्होंने कषायप्राभृतचूर्णि और पंचसंग्रह आदि अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रंथोंका संपादन किया है। वे अनुभवी विद्वान् हैं। अतएव काका श्री. वालचंदजी देवचंदजी शहा की सम्मतिपूर्वक संशोधित संस्करणका बारीकीसे मिलान करनेके लिये मैंने उन्हे वाराणसी आमंत्रित किया था। मेरे इस आमंत्रणको स्वीकार कर वे वाराणसी आये। ७–८ दिन तक मेरे घर ठहरे रहे। ग्रंथमें कहीं कोई त्रुटि न रह जाय इस दृष्टिसे मैंने उनके साथ समग्र ग्रंथका मय टिप्पण आदिके साथ वाचन कर उसे अंतिमरूप दिया। इसके लिये मैं उनका आभारी हूं।

श्रीमान् डॉ. हीरालालजी और श्रीमान् डॉ. ए. एन्. उपाध्ये श्री जीवराज जैन ग्रंथमालाके प्रधान सम्पादक हैं। उन दोनों विद्वानोंकी स्वीकृति पूर्वकही मुझे यह कार्य सौंपा गया था। इस विषयमें विशेष परामर्श करनेके लिए मैं एक बार श्री. माणिकचंदजी भिसीकर, न्यायतीर्थ, एम्. ए. (बाहुबली) इनके साथ तथा दूसरी बार श्रीयुत पं. ब्र. माणिकचंदजी चवरे इनके साथ कोल्हापूर गया। दोनों बार श्री. डॉ. ए. एन्. उपाध्येजीने अपने बंगलेमें मुझे बहुत अच्छी तरह रखा और आवश्यक परामर्श दिया। एतदर्थ मैं उक्त सब विद्वानोंका आभारी हूं।

फोटो प्रिंटोंके आधारसे प्रस्तुत संस्करणका मिलान मैंने बाहुबली (कुंभोज) के वास्तव्यमें किया है। इसके लिये मुझे वहाँ सब प्रकारकी सुविधा प्रदान की गई। इसके लिये मैं पूरे बाहुबली विद्यापीठ परिवारका आभारी हूं।

काका श्री. वालचंदजी देवचंदजी शहा तो जीवराज जैन ग्रंथमाला सोलापूरके प्राण हैं। अपनी वृद्धावस्था की चिंता न करते हुए वे निरलस भावसे जीवराज जैन ग्रंथमाला सहित अनेक साहित्यिक तथा शैक्षणिक संस्थाओंकी सम्हाल करते रहते हैं। श्रीसिद्धक्षेत्र कुंथलगिरीकी संम्हाल भी उन्हें ही करनी पडती है। उनकी ये सेवाएं स्वर्णाक्षरोंमें अंकित करने लायक हैं। वे दीर्घजीवी होकर इसी प्रकार धर्म और समाजकी सेवा करते रहे यह भावना है। उनका इस कार्यमें मुझे यथासंभव पूरा सहाय्य प्राप्त हुआ। इसके लिए मैं उनका भी आभारी हूं।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

इस संस्करणके मुद्रण का कार्य मेसर्स सन्मति मुद्रणालय, सोलापुरके संचालक तथा कर्मचारी गण इन्होंने अल्पावधिमें सुंदर छपाई के साथ संपन्न किया है। इसके लिये मै उनका भी आभारी हूं।

इस संस्करणके संशोधनमें मैंने अपनी पूरी प्रतिभाका उपयोग किया है। फिर भी कहीं कोई त्रुटि रह गई तो विद्वान् पाठक उसे सुधार कर पढें यह नम्र निवेदन है।

विज्ञेषु अलम्।

श्री सन्मति जैन निकेतन–
नरिया, वाराणसी–५
ता. ११–१०–७२

निवेदक
फुलचंद सि. शास्त्री

प्राक् कथन

(प्रथम संस्करण)

यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी ।

सन् १९२४ में मैंने कारंजाके शास्त्र भंडारोंका अवलोकन किया और वहांके ग्रंथोंकी सूची बनाई। वहां अपभ्रंश भाषाका बहुतसा अश्रुतपूर्व साहित्य मेरे दृष्टिगोचर हुआ। उसको प्रकाशमें लानेकी उत्कंठा मेरे तथा संसारके अनेक भाषा-कोविदोंके हृदयमें उठने लगी। ठीक उसी समय मेरी कारंजाके समीप ही अमरावती, किंग एडवर्ड कालेजमें नियुक्ति हो गई और मेरे सदैवके सहयोगी सिद्धांतशास्त्री **पं. देवकीनन्दनजीके** सुप्रयत्नसे व **श्रीमान् सेठ गोपाल सावजी चवरे** व **बलात्कारगण मन्दिरके** अधिकारियोंके सदुत्साहसे उन अपभ्रंश ग्रंथोंके सम्पादन प्रकाशनका कार्य चल पडा, जिसके फलस्वरूप पांच छह अत्यन्त महत्वपूर्ण अपभ्रंश काव्योंका अब तक प्रकाशन हो चुका है।

मूडबिद्रीके धवलादि सिद्धान्त ग्रंथोंकी कीर्ति में बचपनसे ही सुनता आ रहा हूं। सन् १९२२ में मैंने जैनसाहित्यका विशेषरूपसे अध्ययन प्रारम्भ किया, और उसी समयके लगभग इन सिद्धान्त ग्रंथोंकी हस्तलिखित प्रतियोंके कुछ कुछ प्रचारकी चर्चा सुनाई पडने लगी। किन्तु उनके दर्शनोंका सौभाग्य मुझे पहले पहले तभी प्राप्त हुवा जब हमारे नगरके अत्यन्त धर्मानुरागी, साहित्यप्रेमी **श्रीमान् सिंघई पन्नालालजीने** धवल और जयधवलकी प्रतिलिपियां कराकर यहांके जैनमंन्दिरमें विराजमान कर दीं। अब हृदयमें चुपचाप आशा होने लगी कि कभी न कभी इन ग्रंथोंके प्रकाशमें लानेका अवश्य सुअवसर मिलेगा।

सन् १९३३ के दिसम्बर मासमें अखिल भारतवर्षी दिगम्बर जैन परिषद्का वार्षिक अधिवेशन इटारसीमें हुआ और उसके सभापति हुए मेरे परमप्रिय मित्र **बैरिस्टर जमनाप्रसादजी सब-जज्ज**। पहले दिनके जलसेके पश्चात् रात्रिके समय हम लोग एक कमरेमें बैठे हुए जैन साहित्यके उद्धारके विषयमें चर्चा कर रहे थे। जज्जसाहव दिनभरकी घूमधाम और दौड-धूपसे थककर सुस्तसे लेटे हुए थे। इसी बीच किसीने खबर दी कि भेलसानिवासी सेठ **लक्ष्मीचन्द्रजी** भी अधिवेशनमें आये हुए हैं और वे किसी धार्मिक कार्यमें, सम्भवतः रथ चलानेमें, कुछ द्रव्य लगाना चाहते हैं। इस खबरसे जज्जसाहबका चेहरा एकदम चमक उठा और उनमें न जाने कहांकी स्फूर्ति आ गई। वे हम लोगोंसे बिना कुछ कहे सुने वहांसे चल दिये। रातके कोई एक बजे लौटकर उन्होंने मुझे जगाया और एक पुर्जा मेरे हाथमें दिया जिसमें सेठ लक्ष्मी-चन्द्रजीने **साहित्योद्धारके** लिये **दस हजारके** दानकी प्रतिज्ञा की थी। इस दानके उपलक्ष्यमें दुसरे दिन प्रातःकाल उपस्थित समाजने सेठजीको **श्रीमंत सेठकी** पदवीसे विभूषित किया।

आगामी गर्मीकी छुट्टियोमें जज्जसाहब मुझे लेकर भेलसा पहुंचे और वहां सेठ **राजमलजी बडजात्या** और श्रीमान् **तखतमलजी** वकीलके सहयोगसे सेठजीके उक्त दानका ट्रस्ट रजिस्ट्री करा लिया गया और यह भी निश्चय हो गया कि उस द्रव्यसे **श्री धवलादि** सिद्धान्तोंके संशोधन प्रकाशनका कार्य किया जाय।

गर्मीकि पश्चात् अमरावती लौटने पर मुझे श्रीमंत सेठजीके दानपत्रकी सद्भावनाको क्रियात्मक रूप देनेकी चिन्ता हुई। पहली चिन्ता धवल जयधवलकी प्रतिलिपि प्राप्त करने की हुई। उस समय इन ग्रंथोंको प्रकाशित करनेके नामसे ही धार्मिक लोक चौकन्ने हो जाते थे और उस कार्यके लिए कोई प्रतिलिपी देनेके लिए तैयार नहीं थे। ऐसे समयमे श्रीमान् सिंघई पन्नालालजीने व अमरावती पंचायतने सत्साहस करके अपने यहांकी प्रतियोंका सदुपयोग करनेकी अनुमति दे दी।

इन प्रतियोंके सूक्ष्मावलोकनसे मुझे स्पष्ट हो गया कि यह कार्य अत्यन्त कष्टसाध्य है क्योंकि ग्रंथोंका परिमाण बहुत विशाल, विषय अत्यन्त गहन और दुरूह, भाषा संस्कृत मिश्रित प्राकृत, और प्राप्य प्रति बहुत अशुद्ध व स्खलन-प्रचुर ज्ञात हुई। हमारे सन्मुख जो धवल और जयधवलकी प्रतियां थीं उनमेंसे जयधवलकी प्रति सीताराम शास्त्रीकी लिखी हुई थी और दूसरीकी अपेक्षा कम अशुद्ध जान पडी। अत: मैंने इसके प्रारम्भका कुछ अंश संस्कृत रूपान्तर और हिंदी भाषान्तर सहित छपाकर चुने हुए विद्वानोंके पास इस हेतु भेजा कि वे उसके आधारसे उक्त ग्रंथोंके सम्पादन प्रकाशनादिके सम्बन्धमें उचित परामर्श दे सकें। इस प्रकार मुझे जो सम्मतियां प्राप्त हो सकीं उनपरसे मैंने सम्पादन कार्यके विषयमें निम्न निर्णय किये--

१. सम्पादन कार्य धवलासे ही प्रारम्भ किया जाय, क्योंकि, रचना-क्रमकी दृष्टिसे तथा प्रचलित परंपरामें इसीका नाम पहले आता है।

२. मूलपाठ एक ही प्रतिके भरोसे न रखा जाय। समस्त प्रचलित प्रतियां एक ही आधुनिक प्रतिकी प्राय: एक ही हाथकी नकलें होते हुए भी उनमेंसे जितनी मिल सकें उनका उपयोग किया जाय तथा मूडबिद्रीकी ताड़पत्रीकी प्रतिसे मिलान करनेका प्रयत्न किया जाय, और उसके अभावमें सहारनपुरकी प्रतिके मिलानका उद्योग किया जाय।

३. मूलके अतिरिक्त हिन्दी अनुवाद दिया जाय, क्योंकि, उसके विना सभी स्वाध्याय-प्रेमियोंको ग्रंथराजसे लाभ उठाना कठिन है। संस्कृत छाया न दी जाय, क्योंकि, एक तो उससे ग्रंथका कलेवर बहुत बढता है; दूसरे उससे प्राकृतके पठन-पाठनका प्रचार नहीं होने पाता, क्योंकि, लोग उस छायाका ही आश्रय लेकर बैठे रहते हैं और प्राकृतकी ओर ध्यान नहीं देते; और तिसरे जिन्हें संस्कृतका अच्छा ज्ञान है उन्हें मूलानुगामी अनुवादकी सहायतासे प्राकृतके समझनेमें भी कोई कठिनाई नहीं होगी।

४. संस्कृत छाया न देनेसे जो स्थानकी बचत होगी उसमें अन्य प्राचीन जैन ग्रंथोंमेंसे तुलनात्मक टिप्पण दिये जाय।

५. ऐसे ग्रंथोंका सम्पादन प्रकाशन बारबार नहीं होता, अतएव इस कार्यमें कोई ऐसी उतावली न की जाय जिससे ग्रंथकी प्रामाणिकता व शुद्धतामें त्रुटि पड़े।

६. उक्त कार्यमें जितना हो सके उतना अन्य विद्वानोंका सहयोग प्राप्त किया जाय।

इन निर्णयोंको सन्मुख रखकर मैंने सम्पादन कार्यकी व्यवस्थाका प्रयत्न किया। मेरे पास तो अपने कालेजके दैनिक कर्तव्यसे तथा गृहस्थीकी अनेक चिन्ताओं और विघ्नबाधाओंसे बचा हुआ ही समय था,[1] जिसके कारण कार्य बहुत ही मन्दगतिसे चल सकता था। अतएव एक सहायक स्थायी रूपसे रख लेनेकी आवश्यकता प्रतीत हुई। सन १९३५ में बीना निवासी पं. वंशीधरजी व्याकरणाचार्यको मैंने बुला लिया, किन्तु लगभग एक माह कार्य करनेके पश्चात् ही कुछ गार्हस्थिक आवश्यकताके कारण उन्हें कार्य छोड़कर चले जाना पड़ा। तत्पश्चात् साढूमल (झांसी) के निवासी पं. हीरालालजी शास्त्री न्यायतीर्थको बुलानेकी बात हुई। वे प्रथम तीन वर्ष उज्जैनमें रायबहादुर सेठ लालचन्द्रजीके यहां रहते हुए ही कार्य करते रहे। कि [illegible] ये और तबसे वे इस कार्यमें मेरी सहायता कर रहे हैं। उसी समयसे बीना निवासी पं. फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्रीकी भी नियुक्ति कर ली गई है और वे भी अब इसी कार्यमें मेरे साथ तत्परतासे संलग्न हैं। संशोधन कार्यमें यथावसर अन्य विद्वानोंका भी परामर्श लिया गया है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

प्राकृतपाठ संशोधनसंबन्धी नियम हमने प्रेस कापीके दो सौ पृष्ठ राजाराम कालेज कोल्हापुरके अर्धमागधीके प्रोफेसर, हमारे सहयोगी और अनेक प्राकृत ग्रंथोंका अत्यन्त कुशलतासे सम्पादन करनेवाले डाक्टर ए.एन्. उपाध्येके साथ पढ़कर निश्चित किये। तथा अनुवादके संशोधनमें जैनधर्मके प्रकाण्ड विद्वान् सि. शा. पं. देवकीनन्दनजीका भी समय समयपर साहाय्य लिया गया। इन दोनों सहयोगियोंकी इस निर्व्याज सहायताका मुझपर बड़ा अनुग्रह है। शेष समस्त सम्पादन, प्रूफ शोधनादि कार्य मेरे स्थायी सहयोगी **पं. हीरालालजी शास्त्री** और **पं. फूलचन्द्रजी शास्त्रीके** निरन्तर साहाय्यसे हुआ है, जिसके लिये मैं उन सबका बहुत कृतज्ञ हूं। यदि इस कृतिमें कुछ अच्छाई और सौन्दर्य हो तो वह सब इसी सहयोगका ही सुफल है।

अब जिनके पूर्व परिश्रम, सहायता और सहयोगसे यह कार्य सम्पन्न हो रहा है उनका हम उपकार मानते हैं। कालके दोषसे कहो या समाजके प्रमादसे, इन सिद्धान्त ग्रंथोंका पठन-पाठन चिरकालसे विच्छिन्न हो गया था। ऐसी अवस्थामें भी एकमात्र अवशिष्ट प्रतिकी शताब्दियोंतक सावधानीसे रक्षा करनेवाले **मूड़बिद्रीके सम्मान्य भट्टारकजी** हमारे महान् उपकारी हुए हैं। गत पचास वर्षोंमें इन ग्रंथोंको प्रकाशमें लानेका महान् प्रयत्न करनेवाले

---

१ मेरी गृहिणी सन् १९२७ से हृद्रोगसे ग्रसित हो गई थी। अनेक औषधि उपचार करनेपर भी उसका यह रोग हटाया नहीं जा सका, किन्तु धीरे धीरे बढ़ता ही गया। बहुतवार मरणप्राय अवस्थामें बड़े महंगे इलाजोंके निमित्तसे प्राणरक्षा की गई। इसी प्रकार ग्यारह वर्ष तक उसकी जीवनयात्रा चलाई। अन्ततः सन १९३८ के दिसम्बर मासमें उसका चिरवियोग हो गया।

स्व. सेठ माणिकचन्दजी जवेरी, बम्बई **मूलचन्दजी सोनी,** अजमेर और **स्व. सेठ हीराचन्द नेमीचन्दजी** सोलापुरके हम अत्यन्त कृतज्ञ हैं। यह स्व. सेठ हीराचन्दजीके ही प्रयत्नका सुफल है कि आज हमें इन महान् सिद्धान्तोंके एक अंशको सर्वसुलभ बनानेका सौभाग्य प्राप्त हो रहा है। **स्व. लाला जम्बूप्रसादजी** रईसकी भी लक्ष्मी सफल है जो उन्होंने इन ग्रंथोंकी एक प्रतिलिपिको अपने यहां सुरक्षित रखनेकी उदारता दिखाई और इस प्रकार उनके प्रकट होनेमें निमित्त कारण हुए। हमारे विशेष धन्यवादके पात्र **स्व. पं. गजपतिजी उपाध्याय** और उनकी **स्व. भार्या विदुषी लक्ष्मीबाई** तथा **पं. सीतारामजी शास्त्री** हैं जिन्होंने इन ग्रंथोंकी प्रतिलिपियोंके प्रचारका कठिन कार्य किया और उस कारण उन भाइयोंके क्रोध और विद्वेषको सहन किया जो इन ग्रंथोंके प्रकट होनेमें अपने धर्मकी हानि समझते हैं। श्रीमान् **सिंघई पन्नालालजीने** जिस धार्मिकभाव और उत्साहसे बहुत धन व्यय करके इन ग्रथोंकी प्रतियां अमरावतीमें मंगाई और उन्हें संशोधन और प्रकाशनके लिये हमें प्रदान की उसका ऊपर उल्लेख कर ही आये हैं। इस कार्यके लिये उनका जितना उपकार माना जावे सब थोडा है। प्रिय सुहृत् बैरि. **जमनाप्रसादजी सब-जज्जका** भारी उपकार है जो उन्होंने सेठ लक्ष्मीचन्द्रजीको इस साहित्योद्धार कार्यके लिये प्रेरित किया। वे ऐसे धार्मिक व सामाजिक कार्योंमें सदैव कप्तानका कार्य किया करते हैं। **श्रीमन्त शेठ लक्ष्मीचन्द्रजी** तो इस समस्त व्यवस्थाके आधारस्तम्भ ही हैं। आर्थिक संकटमय वर्तमानकालमें उनके हायस्कूल, छात्रवृत्ति, और साहित्योद्धार निमित्त दिये हुए अनेक बडे बडे दानोंद्वारा धर्म और समाजका जो उपकार हो रहा है उसका पूरा मूल्य अभी आंका नहीं जा सकता। वह कार्य कदाचित् हमारी भावी पिढीद्वारा ही सुचारुरूपसे किया जा सकेगा। सेठजीको उनके इन उदार कार्योंमें प्रवृत्त कराने और उनका निर्वाह करानेवाले भेलसा निवासी **सेठ राजमलजी बडजात्या** और श्रीमान् **तखतमलजी** वकील हैं जिन्होंने इस योजनामें भी बडी रुचि दिखाई और हमें हर प्रकारसे सहायता पहुंचाकर उपकृत किया। साहित्योद्धारकी ट्रस्ट कमेटीमें सि.पन्नालालजी, पं. देवकीनन्दनजी और सेठ राजमलजीके अतिरिक्त भेलसाके **श्रीयुत मिश्रीलालजी** व सरसावा निवासी **पं. जुगलकिशोरजी मुख्तार** भी हैं। इन्होंने प्रस्तुत कार्यको सफल बनानेमें सदैव अपना पूरा योग दिया है। पं. जुगलकिशोरजी मुख्तारसे हमें सपादन कार्यमें विशेष साहाय्य मिलनेकी आशा थी, किन्तु हमारे दुर्भाग्यसे इसी बीच उनका स्वास्थ्य बिगड गया और हम उनके साहाय्यसे बिलकुल वंचित रहे। किन्तु आगे संशोधन कार्यमें उनसे सहायता मिलनेकी हमें पूरी आशा है। जबसे इन ग्रंथोंके प्रकाशनका निश्चय हुआ है तबसे शायद ही कोई माह ऐसा गया हो जब हमारी समाजके अद्वितीय कार्यकर्ता श्रीयुत **ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजीने** हमें इस कार्यको आगे बढ़ाने और पूरा करनेकी प्रेरणा न की हो। धर्मप्रभावनाके ऐसे कार्योंको सफल देखनेके लिये ब्रह्मचारीजीका हृदय ऐसा तडपता है जैसे कोई शिशु अपने माताके दूधके लिये तड़पे। उनकी इस निरन्तर प्रेरणाके लिये हम उनके बहुत उपकृत हैं। हम जानते हैं वे इतने कार्यको सफल देख बहुत ही प्रसन्न होंगे। सम्पादन और प्रकाशनसम्बन्धी अनेक व्यावहारिक कठिनाइयोंको सुलझानेमें निरन्तर सहाय्य हमें अपने समाजके महारथी साहित्यिक विद्वान् श्रद्धेय **पं. नाथूरामजी प्रेमीसे** मिला है। यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि प्रेमीजी जैन समाजमें नवीन युगके साहित्यिकोंके **प्रमुख**

स्फूर्तिदाता हैं। जिन जिन कार्योंमें जिस जिस प्रकार हमने प्रेमीजीकी सहायता ली है और उन्हें उनकी वृद्धावस्थामें कष्ट पहुंचाया है उसका यहां विवरण न देकर इतना ही कहना वश है कि हमारी इस कृतिके कलेवरमें जो कुछ उत्तम और सुन्दर है उसमें हमारे प्रेमीजीका अनुभवी और कुशल हाथ प्रत्यक्ष और परोक्ष रूपसे विद्यमान है। विना उनके तात्कालिक
मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज
सत्परामर्श, सदुपदेश और सत्साहाय्यके न जाने हमारे इस कार्यकी क्या गति होती। जैसा भूमिकासे ज्ञात होगा, प्रस्तुत ग्रंथके संशोधनमें हमें **सिद्धान्तभवन, आरा** और **महावीर ब्रह्मचर्याश्रम, कारंजा** की प्रतियोंसे बडी सहायता मिली है, इस हेतु हम इन दोनों संस्थाओंके अधिकारियोंके और प्रतिकी प्राप्तिमें सहायक **पं. भुजबली शास्त्री** और **पं. देवकीनन्दनजी शास्त्री**के बहुत कृतज्ञ हैं। जिन्होंने हमारी प्रश्नावलीका उत्तर देकर हमें मूड़बिद्रीसे और तत्पश्चात् सहारनपुरसे प्रतिलिपि बाहर आनेका इतिहास लिखनेमें सहायता दी उनका हम बहुत उपकार मानते हैं। उनकी नामावली अन्यत्र प्रकाशित है। इनमें श्रीमान् सेठ **रावजी सखारामजी दोशी**,* सोलापुर, **पं. लोकनाथजी शास्त्री**, मूडबिद्री और श्रीयुत **नेमिचन्द्रजी वकील**, उस्मानाबादका नाम विशेष उल्लेखनीय है। अमरावतीके सुप्रसिद्ध, प्रवीण ज्योतिर्विद् **श्रीयुत प्रेमशंकरजी दबेकी** सहायतासे ही हम धवलाकी प्रशस्तिके ज्योतिषसम्बन्धी उल्लेखोंकी छानबीन और संशोधन करनेमें समर्थ हुए हैं। इस हेतु हम उनके बहुत कृतज्ञ हैं। इस ग्रंथका मुद्रण स्थानीय 'सरस्वती प्रेसमें' हुआ है। यह क्वचित् ही होता है कि सम्पादकको प्रेसके कार्य और विशेषतः उसकी मुद्रणकी गति और वेगसे सन्तोष हो। किन्तु इस प्रेसके मैनेजर मि. टी. एम्. पाटीलको हम हार्दिक धन्यवाद देते हैं कि उन्होंने हमारे कार्यमें कभी असन्तोषका कारण उत्पन्न नहीं होने दिया और अल्प समयमें ही इस ग्रंथका मुद्रण पूरा करनेमें उन्होंने और उनके कर्मचारियोंने बेहद परिश्रम किया है।

इस वक्तव्यको पूरा करते समय हृदयके पवित्र और दृढ़ताके लिये हमारा ध्यान पुनः हमारे तीर्थंकर भगवान् महावीर और उनकी धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि तककी आचार्य-परम्पराकी ओर जाता है जिनके प्रसाद-लवसे हमें यह साहित्य प्राप्त हुआ है। तीर्थंकरों और केवलज्ञानियोंका जो विश्वव्यापी ज्ञान द्वादशांग साहित्यमें ग्रथित हुआ था, उससे सीधा सम्बन्ध रखनेवाला केवल इतना ही साहित्यांश बचा है जो धवल, जयधवल और महाधवल कहलानेवाले ग्रंथोंमें निबद्ध है; दिगम्बर मान्यतानुसार शेष सब कालके गालमें समा गया। किन्तु जितना भी शेष बचा है वह भी विषय और रचनाकी दृष्टिसे हिमाचल जैसा विशाल और महोदधि जैसा गंभीर है। उसके विवेचनकी सूक्ष्मता और प्रतिपादनके विस्तारको देखनेसे हम जैसे अल्प ज्ञानियोंकी बुद्धि चकरा जाती है और अच्छे अच्छे विद्वानोंका भी गर्व खर्च होने लगता है। हम ऐसी उच्च और विपुल साहित्यिक सम्पत्तिके उत्तराधिकारी हैं इसका हमें भारी गौरव है।

---

* इसके छपते छपते हमें समाचार मिला है कि दोशीजीका २० अक्टूबरको स्वर्गवास हो गया, इसका हमें अत्यन्त शोक है। हमारी समाजका एक भारी कर्मठ पुरुषरत्न उठ गया।

इस गौरवकी वस्तुके एक अंशको प्रस्तुत रूपमें पाकर पाठक प्रसन्न होंगे। किन्तु इसके तैयार करनेमें हमें जो अनुभव मिला है उससे हमारा हृदय भीतर ही भीतर खेद और विषादके आवेगसे रो रहा है। इन सिद्धान्त ग्रंथोंमें जो अपार ज्ञाननिधि भरी हुई है उसका गत कई शताब्दियोंमें हमारे साहित्यको कोई लाभ नहीं मिला सका, क्योंकि, इनकी एकमात्र प्रति किसीप्रकार तालोंके भीतर बन्द हो गई और अध्ययनकी वस्तु न रहकर पूजाकी वस्तु बन गई। यदि ये ग्रंथ साहित्य-क्षेत्रमें प्रस्तुत रहते तो उनके आधारसे अबतक न जाने कितना किस कोटिका साहित्य निर्माण हो गया होता और हमारे साहित्यको कौनसी दिशा और गति मिल गई होती। कितनी ही सैद्धान्तिक गुत्थियां, जिनमें विद्वत्समाजके समय और शक्तिका न जाने कितना ह्रास होता रहता है, यहां सुलझी हुई पडी हैं। ऐसी विशाल सम्पत्ति पाकर भी हम दरिद्री ही बने रहे और इस दरिद्रताका सबसे अधिक सन्ताप और दुःख हमें इनके संशोधन करते समय हुआ। जिन प्रतियोंको लेकर हम संशोधन करने बैठे वे त्रुटियों और स्खलनोंसे परिपूर्ण हैं। हमें उनके एक एक शब्दके संशोधनार्थ न जाने कितनी मानसिक कसरतें करनी पडी हैं और कितने दिनोंतक रातके दो दो बजेतक बैठकर अपने खूनको सुखाना पड़ा है। फिरभी हमने जो संशोधन किया उसका सोलहों आने यह भी विश्वास नहीं कि वे ही आचार्य-रचित शब्द हैं। और यह सब करना पड़ा, जब कि मूडबिद्रीकी आदर्श प्रतियोंके दृष्टिपात मात्रसे संभवतः उन कठिन स्थलोंका निर्विवाद रूपसे निर्णय

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

हो सकता था। हमें उस मनुष्यके जीवन कैसा अनुभव हुआ जिसके पिताकी अपार कमाईपर कोई ताला लगाकर बैठ जाय और वह स्वयं एक एक टुकडेके लिये दर दर भीक मांगता फिरे। और इससे जो हानि हुई वह किसकी? जितना समय और परिश्रम इनके संशोधनमें खर्च हो रहा है उससे मूल प्रतियोंकी उपलब्धिमें न जाने कितनी साहित्यसेवा हो सकती थी और समाजका उपकार किया जा सकता था। ऐसे ही समय और शक्तिके अपव्ययसे समाजकी गति रुकती है। इस मंदगतिसे न जाने कितना समय इन ग्रंथोंके उद्धारमें खर्च होगा। यह समय साहित्य, कला और संस्कृतिके लिये बडे संकटका है। राजनैतिक विप्लवसे हजारों वर्षोंकी सांस्कृतिक सम्पत्ति कदाचित् मिनटोंमें भस्मसात् हो सकती है। दैव रक्षा करे, किन्तु यदि ऐसा ही संकट यहां आ गया तो ये द्वादशांगवाणीके अवशिष्ट रूप फिर कहां रहेंगे? हब्श, चीन आदि देशोंके उदाहरण हमारे सन्मुख हैं। प्राचीन प्रतिमाएं खण्डित हो जानेपर नई कभी भी प्रतिष्ठित हो सकती हैं, पुराने मन्दिर जीर्ण होकर गिर जानेपर नये कभी भी निर्माण कराकर खडे किये जा सकते हैं, धर्मके अनुयायियोंकी संख्या कम होनेपर कदाचित् प्रचारद्वारा बढ़ाई जा सकती है, किन्तु प्राचीन आचार्योंके जो शब्द ग्रंथोंमें ग्रथित हैं उनके एकवार नष्ट हो जानेपर उनका पुनरुद्धार सर्वथा असम्भव है। क्या लाखों करोडों रुपया खर्च करके भी पूरे द्वादशांग श्रुतका उद्धार किया जा सकता है? कभी नहीं। इसी कारण सजीव देश, राष्ट्र और समाज अपने पूर्व साहित्यके एक एक टुकडेपर अपनी सारी शक्ति लगाकर उसकी रक्षा करते हैं। यह ख्याल रहे कि जिन उपायोंसे अभीतक ग्रंथ रक्षा होती रही, वे उपाय अब कार्यकारी नहीं। संहारक शक्तिने आजकल भीषण रूप धारण कर लिया है। आजकल साहित्य रक्षाका इससे

बढ़कर दूसरा कोई उपाय नहीं कि ग्रंथोंकी हजारों प्रतियां छपाकर सर्वत्र फैला दी जाय ताकि किसी भी अवस्थामें कहीं न कहीं उनका अस्तित्व बना ही रहेगा। यह हमारी श्रुत-भक्तिका अत्यन्त बुद्धिहीन स्वरूप है जो हम ज्ञानके इन उत्तम संग्रहोंकी ओर इतने उदासीन हैं और उनके सर्वथा विनाशकी जोखम लिये चुपचाप बैठे हैं। यह प्रश्न समस्त जैन समाजके लिये विचारणीय है। इसमें उदासीनता घातक है। हृदयके इन उद्गारोंके साथ अब मैं अपने प्राक्कथनको समाप्त करता हूं और इस ग्रंथको पाठकोंके हाथोंमें सौंपता हूं।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

किंग एडवर्ड कालेज
अमरावती
१-११-३९

हीरालाल जैन.

१. श्री धवलादि सिद्धान्तोंके प्रकाशमें आनेका इतिहास

सुना जाता है कि श्री धवलादि सिद्धान्त ग्रंथोंको प्रकाशमें लाने और उनका उत्तर भारतमें पठनपाठनद्वारा प्रचार करनेका विचार पंडित टोडरमलजीके समयमें जयपुर और अजमेरकी ओरसे प्रारंभ हुआ था। किंतु कोई भी महान् कार्य सुसंपादित होनेके लिये किसी महान् आत्माकी बाट जोहता रहता है। बम्बईके दानवीर, परमोपकारी स्व. सेठ माणिकचंदजी जे. पी. का नाम किसने न सुना होगा? आजसे छप्पन वर्ष पहिले वि. सं. १९४० (सन् १८८३ ई.) की बात है। सेठजी संघ लेकर मूडविद्रीकी यात्राको गये थे। वहां उन्होंने रत्नमयी प्रतिमाओं और धवलादि सिद्धान्त ग्रंथोंकी प्रतियोंके दर्शन किये। सेठजीका ध्यान जितना उन बहुमूल्य प्रतिमाओंकी ओर गया, उससे कहीं अधिक उन प्रतियोंकी ओर आकर्षित हुआ। उनकी सूक्ष्म धर्मरक्षक दृष्टिसे यह बात छुपी नही रहीं कि उन प्रतियोंके ताडपत्र जीर्ण हो रहे हैं। उन्होंने उस समयके भट्टारकजी तथा वहांके पंचोंका ध्यान भी उस ओर दिलाया और इस बातकी पूछताछ की कि क्या कोई उन ग्रंथोंको पढ़ समझ भी सकता है या नहीं? पंचोंने उत्तर दिया 'हम लोग तो इनका दर्शन पूजन करके ही अपने जन्मको सफल मानते हैं। हां, जैनविद्री (श्रवणवेलगुल) में ब्रह्मसूरि शास्त्री हैं, वे इनको पढ़ना जानते हैं'। यह सुनकर सेठजी गंभीर विचारमें पड गये। उस समय इससे अधिक कुछ न कर सके, किंतु उनके मनमें सिद्धान्त ग्रंथोंके उद्धारकी चिन्ता स्थान कर गई।

यात्रासे लौटकर सेठजीने अपने परम सहयोगी मित्र, शोलापुरनिवासी श्री सेठ हीराचन्द नेमचन्दजी को पत्र लिखा और उसमें श्री धवलादि ग्रंथोंके उद्धारकी चिन्ता प्रगट की, तथा स्वयं भी जाकर उक्त ग्रंथोंके दर्शन करने और फिर उद्धारके उपाय सोचनेकी प्रेरणा की। सेठ माणिकचंदजीकी इस इच्छाको मान देकर सेठ हीराचंदजीने दूसरे ही वर्ष, अर्थात् वि. सं. १९४१ (सन १८८४) में स्वयं मूडविद्रीकी यात्रा की। वे अपने साथ श्रवणवेलगुलके पण्डित ब्रह्मसूरि शास्त्रीको भी ले गये। ब्रह्मसूरिजीने उन्हें तथा उपस्थित सज्जनोंको श्री धवल सिद्धान्तका मंगलचरण पढ़कर सुनाया, जिसे सुनकर वे सब अतिप्रसन्न हुए। सेठ हीराचंदजीके मनमें सिद्धान्त ग्रंथोंकी प्रतिलिपि करानेकी भावना दृढ़ हो गई और उन्होंने ब्रह्मसूरि शास्त्रीसे प्रतिलिपिका कार्य अपने हाथमें लेनेका आग्रह किया। वहांसे लौटकर सेठ हीराचंदजी बम्बई आये और सेठ माणिकचंदजीसे मिलकर उन्होने ग्रंथोंकी प्रतिलिपि करानेका विचार पक्का किया। किंतु उनके वहांसे लौटनेपर वे तथा सेठ माणिकचंदजी अपने अपने व्यावसायिक कार्योंमें गुंथ गये और कोई दश वर्षतक प्रतिलिपि करानेकी बात उनके मनमें ही रह गई।

इसी बीचमें अजमेरनिवासी श्रीयुक्त सेठ मूलचंदजी सोनी, श्रीयुक्त पं. गोपालदासजी वरैयाके साथ मूडविद्रीकी यात्राको गये। उस समय उन्होंने सिद्धान्त ग्रंथोंके दर्शनकर वहांके पंचों और ब्रह्मसूरि शास्त्रीके साथ यह बात निश्चित की कि उन ग्रन्थोंकी प्रतिलिपियां की जाय।

तदनुसार लेखनकार्य भी प्रारंभ हो गया । यात्रासे लौटते समय सेठ मूलचंदजी सोनी शोलापुर और बम्बई भी गये और उन्होंने सेठ हीराचंदजी व माणिकचंदजीको भी अपने उक्त कार्यकी सूचना दी, जिसका उन्होंने अनुमोदन किया । श्रीमान् सिंघई पन्नालालजी अमरावतीवालोंसे ज्ञात हुआ है कि जब उनके पिता स्व. सिंघई वंशीलालजी सं. १९४७ (सन १८९०) के लगभग मूडबिद्रीकी यात्राको गये थे तब ब्रह्मसूरि शास्त्री द्वारा लेखनकार्य प्रारंभ हो गय था । किंतु लगभग तीनसौ श्लोक प्रमाण प्रतिलिपि होनेके पश्चात् ही वह कार्य बन्द पड़ गया, क्योंकि, सेठजी वह प्रतिलिपि अजमेरके लिये चाहते थे और यह बात मूडबिद्रीके भट्टारकजी व पंचोंको इष्ट नहीं थी ।

इसी विषयको लेकर सं. १९५२ (सन १८९५) में सेठ माणिकचंदजी और सेठ हीराचंदजी के बीच पुनः पत्रव्यवहार हुआ जिसके फलस्वरूप सेठ हीराचंदजीने प्रतिलिपि करानेके खर्चके लिये चन्दा एकत्र करनेका बीड़ा उठाया । उन्होंने अपने पत्र जैनबोधकमें सौ सौ रुपयोंके सहायक बननेके लिये अपील निकालना प्रारंभ कर दिया । फलतः एक वर्षके भीतर चौदह हजारसे ऊपरके चन्देकी स्वीकारता आगई ! तब सेठ हीराचंदजीने सेठ माणिकचंदजीको शोलापुर बुलाया और उनके समक्ष ब्रह्मसूरि शास्त्रीसे एकसौ पच्चीस (१२५) रुपया मासिक वृत्तिपर प्रतिलिपि करनेकी बात पक्की होगई । उनकी सहायताके लिये मिरजनिवासी गजपति शास्त्री भी नियुक्त कर दिये गये । ये दोनों शास्त्री मूडबिद्री पहुंचे और उसी वर्षकी फाल्गुन शुक्ला ७ बुधवारको ग्रंथकी प्रतिलिपि करनेका कार्य प्रारंभ हो गया । उसके एक माह और तीन दिन पश्चात् चैत्र शुक्ला १० को ब्रह्मसूरि शास्त्रीने सेठ हीराचंदजीको पत्रद्वारा सूचित किया कि जयधवलके पन्द्रह पत्र अर्थात् लगभग १५०० श्लोकोंकी कापी हो चुकी । इसके कुछ ही पश्चात् ब्रह्मसूरि शास्त्री अस्वस्थ हो गये और अन्ततः स्वर्गवासी हुए ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

ब्रह्मसूरि शास्त्रीके पश्चात् गजपति शास्त्रीने प्रतिलेखनका कार्य चालू रक्खा और लगभग सोलह वर्षमें धवल और जयधवलकी प्रतिलिपि नागरी लिपिमें पूरी की । इसी अवसरमें मुडबिद्रीके पण्डित देवराज सेठी, शांतप्पा उपाध्याय तथा ब्रह्मय्य इंद्रद्वारा उक्त ग्रंथोंकी कनाडी लिपिमें भी प्रतिलिपि कर ली गई । उस समय सेठ हीराचंदजी पुनः मूडबिद्री पहुंचे और उन्होंने यह इच्छा प्रगट की कि तीसरे ग्रंथराज महाधवलकी भी प्रतिलिपि हो जाय और इन ग्रंथोकी सुरक्षा तथा पठनपाठनरूप सदुपयोगके लिये अनेक प्रतियां कराकर भिन्न भिन्न स्थानोंमें रक्खी जावें । किंतु इस बातपर भट्टारकजी व पंचलोग राजी नहीं हुए । तथापि महाधवलकी कनाडी प्रतिलिपि पंडित नेमिराजजी द्वारा किये जानेकी व्यवस्था करा दी गई । यह कार्य सन १९१८ से पूर्व पूर्ण हो गया । इसके पश्चात् सेठ हीराचंदजीके प्रयत्नसे महाधवलकी नागरी प्रतिलिपि पं. लोकनाथजी शास्त्रीद्वारा लगभग चार वर्षमें पूरी हुई । इस प्रकार इन ग्रंथोंका प्रतिलिपि कार्य सन १८९६ से १९२२ तक अर्थात् २६ वर्ष चला, और इतने समयमें इनकी कनाडी लिपि पं. देवराज सेठी, पं. शांतप्पा इन्द्र, पं. ब्रह्मय्य इन्द्र तथा पं. नेमिराज सेठी द्वारा ; तथा नागरी लिपि पं. ब्रह्मसूरि शास्त्री, पं. गजपति उपाध्याय और पं. लोकनाथजी शास्त्री द्वारा की गई । इस कार्यमें लगभग बीस हजार रुपया खर्च हुआ ।

धवल और जयधवलकी प्रतिके बाहर निकलनेका इतिहास

धवल और जयधवलकी नागरी प्रतिलिपि करते समय श्री गजपति उपाध्यायने गुप्तरीतिसे उनकी एक कनाडी प्रतिलिपि भी कर ली और उसे अपने ही पास रख लिया। इस कार्यमें विशेष हाथ उनकी विदुषी पत्नी लक्ष्मीबाईका था, जिनकी यह प्रबल इच्छा थी कि इन ग्रंथोंके पठनपाठनका प्रचार हो। सन् १९१६ में उन प्रतिलिपियोंको लेकर गजपति उपाध्याय सेठ हीराचंदजीके पास शोलापुर पहुंचे और न्योछावर देकर उन्हे अपने पास रखनेके लिये कहा। किंतु सेठजीने उन्हे अपने पास रखना स्वीकार नहीं किया, तथा अपने घनिष्ठ मित्र सेठ माणिकचंदजी को भी लिख दिया कि वे भी उन प्रतियोंको अपने पास न रक्खें। उनके ऐसा करनेका कारण यही जाना जाता है कि वे मूडविद्रीसे बाहर प्रतियोंको न ले जानेके लिये मूडविद्रीके पंचों और भट्टारकजी से वचनबद्ध हो चुके थे। अतएव प्रतियोंके प्रचारकी भावना रखते हुए भी उन्होंने प्रतियोंको अपने पास रखना नैतिक दृष्टिसे उचित नहीं समझा। तब गजपति उपाध्याय उन प्रतियोंको लेकर सहारनपुर पहुंचे, और वहां श्री लाला जम्बूप्रसादजी रईसने उन्हें यथोचित पुरस्कार देकर उन प्रतियोंको अपने मंदिरजीमें विराजमान कर दिया।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

गजपति उपाध्यायने लालाजी को यह आश्वासन दिया था कि वे स्वयं उन कनाडी प्रतियोंकी नागरी लिपी कर देंगे। किंतु पुत्रकी बीमारीके कारण उन्हें शीघ्र घर लौटना पड़ा। पश्चात् उनकी पत्नी भी बीमार हुई और उनका देहान्त हो गया। इन संकटोंके कारण उपाध्यायजी फिर सहारनपुर न जा सके और सन् १९२३ में उनका भी शरीरान्त हो गया। लालाजीने उन ग्रंथोंकी नागरी प्रतिलिपि पण्डित विजयचंद्रय्या और पं. सीताराम शास्त्रीके द्वारा कराई। यह कार्य सन् १९१६ से १९२३ तक संपन्न हुआ। सन् १९२४ में सहारनपुरवालोंने मूडबिद्रीके पं लोकनाथजी शास्त्रीको बुलाकर उनसे कनाडी और नागरी लिपियोंका मिलान करा लिया।

सहारनपुरकी कनाडी प्रतिकी नागरी लिपि करते समय पं. सीताराम शास्त्रीने एक और कापी कर ली और उसे अपने ही पास रख लिया, यह लाला प्रद्युम्नकुमारजी रईस, सहारनपुर, की सूचनासे यह ज्ञात हुआ है। पर यह भी सुना जाता है कि जिस समय पं. विजयचंद्रय्या और पं. सीताराम शास्त्री कनाडीकी नागरी प्रतिलिपि करने बैठे उस समय पं. विजयचंद्रय्या पढते जाते थे और पं. सीताराम शास्त्री सुविधा और जल्दीके लिये कागजके खरोंपर नागरीमें लिखते जाते थे। इन्हीं खरोंपरसे उन्होंने पीछे शास्त्राकार प्रति सावधानीसे लिखकर लालाजीको दे दी, किंतु उन खरोंको अपने पास ही रख लिया, और उन्हीं खरोंपरसे पीछे सीताराम शास्त्रीने अनेक स्थानोंपर धवल जयधवल की लिपियां करके दी। वे ही तथा उन परसे की गई प्रतियां अब अमरावती, आरा, कारंजा, दिल्ली, बम्बई, शोलापूर, सागर, झालरापाटन, इन्दौर, सिवनी, ब्यावर, और अजमेरमें विराजमान हैं।

पं. गजपति उपाध्याय तथा पं. सीताराम शास्त्रीने चाहे जिस भावनासे उक्त कार्य किया हो और भले ही नीतिकी कसौटी पर वह कार्य ठीक न उतरता हो, किंतु इन महान्

सिद्धान्त ग्रंथोंको सैकडों वर्षोंके कैदसे मुक्त करके विद्वत् और जिज्ञासु संसारका महान् उपकार करनेका श्रेय भी उन्हींको है । इस प्रसंगमें मुझे गुमानी कविका निम्न पद्य याद आता है--

पूर्वजशुद्धिमिषाद् भुवि गंगां प्रापितवान् स भगीरथभूपः ।
बन्धुरभूज्जगतः परमोऽसौ सज्जन है सबका उपकारी ॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

सिद्धान्त ग्रंथोंकी प्रतियोंका इतिहास संग्रह करनेके लिये हमने जो प्रश्नावली प्रकाशित की थी उसका जिन अनेक महानुभावोंने सूचनात्मक उत्तर भेजनेकी कृपा की। हम उन्हीं उत्तरोंके आधारसे पूर्वोक्त इतिहास प्रस्तुत करनेमें समर्थ हुए, इस हेतु हम इन सज्जनोंका आभार मानते हैं।

धवलादि सिद्धान्त ग्रंथोंकी प्रति-उद्धारसंबन्धी प्रश्नावलीका उत्तर भेजनेवाले सज्जनोंकी नामावली—

१ श्रीमान् सेठ रावजी सखारामजी दोशी, शोलापुर
२ श्रीमान् लाला प्रद्युम्नकुमारजी रईस, सहारनपुर
३ श्रीमान् पं. नाथूरामजी प्रेमी, बम्बई
४ श्रीमान् पं. लोकनाथजी शास्त्री, मंत्री, वीरवाणी सिद्धान्त भवन, मूडबिद्री
५ श्रीमान् ब्र. शीतलप्रसादजी
६ श्रीमान् पं. देवकीनन्दनजी सिद्धान्तशास्त्री, कारंजा
७ श्रीमान् सिंघई पन्नालालजी वंशीलालजी, अमरावती
८ श्रीमान् पं. मक्खनलालजी शास्त्री, मोरेना
९ श्रीमान् पं. रामप्रसादजी शास्त्री, श्री. ऐ. पन्नालाल दि. जैन सरस्वती भवन, बम्बई
१० श्रीमान् पं. के. भुजबलीजी शास्त्री, जैन सिद्धान्तभवन, आरा
११ श्रीमान् पं. दयाचन्दजी न्यायतीर्थ, सत्तर्कसुधातरंगिणी पाठशाला, सागर
१२ श्रीमान् सेठ वीरचंद कोदरजी गांधी, फलटन
१३ श्रीमान् सेठ ठाकुरदास भगवानदासजी जव्हेरी, बम्बई
१४ श्रीमान् सेठ मूलचन्द किशनदास जी कापडिया, सूरत
१५ श्रीमान् सेठ राजमल जी बडजात्या, भेलसा
१६ श्रीमान् गांधी नेमचंद बालचंदजी, वकील, उस्मानाबाद
१७ श्रीमान् बाबू कामताप्रसादजी, सम्पादक वीर, अलीगंज

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

२. हमारी आदर्श प्रतियाँ

१. धवलादि सिद्धान्तग्रंथोंकी एकमात्र प्राचीन प्रति दक्षिण कर्नाटक देशके मूडबिद्री नगरके गुरुवसदि नामक जैन मंदिरमें वहांके भट्टारक श्रीचारुकीर्तिजी महाराज तथा जैन पंचोंके अधिकारमें है। तीनों ग्रंथोंकी प्रतियां ताड़पत्र पर कनाड़ी लिपिमें हैं। धवलाके ताड़पत्रोंकी लम्बाई लगभग २। फुट, चौड़ाई ३ इंच, और कुलसंख्या ५९२ है। यह प्रति कबकी लिखी हुई है इसका ठीक ज्ञान प्राप्त प्रतियों परसे नहीं होता है। किन्तु लिपि प्राचीन कनाड़ी है जो पांच छैसौ वर्षोंसे कम प्राचीन नहीं अनुमान की जाती। कहा जाता है कि ये सिद्धान्त ग्रंथ पहले जैनबिद्री अर्थात् श्रवणबेलगोल नगर के एक मंदिरजी में विराजमान थे। इसी कारण उस मंदिरकी अभी तक 'सिद्धान्त बस्ती' नामसे प्रसिद्धि है। वहां से किसी समय ये ग्रंथ मूडबिद्री पहुंचे। (एपीग्राफिआ कर्नाटिका, जिल्द २, भूमिका पृ. २८)

२. इसी प्रतिकी धवलाकी कनाड़ी प्रतिलिपि पं. देवराज सेठी, शान्तप्पा उपाध्याय और ब्रह्मय्य इन्द्र द्वारा सन् १८९६ और १९१६ के बीच पूर्ण की गयी थी। यह लगभग १ फुट २ इंच लम्बे और ६ इंच चौडे काश्मीरी कागज के २८०० पत्रों पर है। यह भी मूडबिद्री के गुरुवसदि मंदिर में सुरक्षित है।

३. धवलाके ताड़पत्रोंकी नागरी प्रतिलिपि पं. गजपति उपाध्याय द्वारा सन् १८९६ और १९१६ के बीच की गई थी। यह प्रति १ फुट ३ इंच लम्बे, १० इंच चौडे काश्मीरी कागज के १३२३ पत्रों पर है। यह भी मूडबिद्री के गुरुवसदि मंदिरमें सुरक्षित है।

४. मूड़बिद्रीके ताड़पत्रों परसे सन् १८९६ और १९१६ के बीच पं. गजपति उपाध्यायने उनकी विदुषी पत्नी लक्ष्मीबाई की सहायतासे जो प्रति गुप्त रीतिसे की थी वह आधुनिक कनाड़ी लिपिमें कागजपर है। यह प्रति अब सहारनपुरमें लाला प्रद्युम्नकुमारजी रईसके अधिकारमें है।

५. पूर्वोक्त नं. ४ की प्रति की नागरी प्रतिलिपि सहारनपुर में पं. विजयचंद्रैया और पं. सीतारामशास्त्रीके द्वारा सन् १९१६ और १९२४ के बीच कराई गई थी। यह प्रति १ फुट लम्बे, ८ इंच चौडे कागजके १६५० पत्रोंपर हुई है। इसका नं. ४ की कनाड़ी प्रतिसे मिलान मूडबिद्री के. पं. लोकनाथजी शास्त्रीद्वारा सन् १९२४ में किया गया था। यह प्रति भी उक्त लालाजीके ही अधिकारमें है।

६. पूर्वोक्त नं. ५ की नागरी प्रतिलिपि करते समय पं. सीताराम शास्त्रीने एक और नागरी प्रतिलिपि करके अपने पास रख ली थी, ऐसा श्रीमान् लाला प्रद्युम्नकुमारजी रईस, सहारनपुर, की सूचनासे जाना जाता है। यह प्रति अब भी पं. सीताराम शास्त्रीके अधिकारमें है।

७. पूर्वोक्त नं. ६ की प्रतिपरसे ही सीताराम शास्त्रीने वे अनेक प्रतियां की हैं जो अब कारंजा, आरा, सागर आदि स्थानों में विराजमान हैं। सागर की प्रति १३॥ इंच लम्बे

७।। इंच चौडे कागज के १५९६ पत्रोंपर है। यह प्रति सत्तर्कसुधातरंगिणी पाठशाला, सागर, के चैत्यालयमें विराजमान है और श्रीमान पं. गणेशप्रसादजी वर्णीके अधिकारमें है।

८. नं. ७ परसे अमरावतीकी धवला प्रति १७ इंच लम्बे, ७ इंच चौडे कागजके १४६५ पत्रोंपर बटुकप्रसादजी कायस्थके हाथसे संवत् १९८५ के माघकृष्णा ८ शनि. को लिखी गई है। यह प्रति अब इस साहित्य उद्धारक फंडके ट्रस्टी श्रीमान् सि. पन्नालाल बंशीलालजी के अधिकारमें है और अमरावतीके परवार दि. जैन मन्दिरमें विराजमान है। इसके ३७५ पत्रोंका संशोधन सहारनपुरवाली नं. ५ की प्रतिपरसे सन १९३८ में कर लिया गया था।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

प्रस्तुत ग्रंथकी प्रथम प्रेसकापी इसी प्रतिपरसे की गई थी। इसका उल्लेख प्रस्तुत ग्रंथकी टिप्पणियों में 'अ' संकेत द्वारा किया गया है।

९. दूसरी प्रति जिसका हमने पाठ संशोधनमें उपयोग किया है, आराके जैनसिद्धान्त भवन में विराजमान है, और लाला निर्मलकुमारजी चक्रेश्वरकुमारजीके अधिकारमें है। यह उपर्युक्त प्रति नं. ६ पर से स्वयं सीताराम शास्त्री द्वारा वि. सं. १९८३ माघ शुक्ला ५ रविवार को लिखकर समाप्त की हुई है। इसके कागज १४।। इंच लम्बे और ६।। इंच चौडे हैं, तथा पत्रसंख्या ११२७ है यह हमारी टिप्पणियों आदि की 'आ' प्रति है।

१०. हमारेद्वारा उपयोगमें ली गई तीसरी प्रति कारंजाके श्री महावीर ब्रह्मचर्याश्रमकी है और हमें पं. देवकीनन्दनजी सिद्धान्तशास्त्रीके द्वारा प्राप्त हुई। यह भी उपर्युक्त नं. ६ परसे स्वयं सीताराम शास्त्री द्वारा १३।। इंच लंबे ८ इंच चौडे कागजके १४१२ पत्रोंपर श्रावण शुक्ला १५, सं. १९८८ में लिखी गई है। इस प्रतिका उल्लेख टिप्पणियों आदि में 'क' संकेत द्वारा किया गया है।

सहारनपुर की प्रतिसे लिए गए संशोधनोंका संकेत 'स' प्रतिके नामसे किया गया है।

इनके अतिरिक्त, जहांतक हमें ज्ञात है, सिद्धान्त ग्रन्थोंकी प्रतियां सोलापुर, झालरापाटन, ब्यावर, बम्बई, इन्दौर, अजमेर, दिल्ली और सिवनीमें भी हैं। इनमेंसे केवल बम्बई दि. जैन सरस्वती भवन की प्रति का परिचय हमारी प्रश्नावलीके उत्तरमें वहां के मैनेजर श्रीयुत पं. रामप्रसादजी शास्त्रीने भेजनेकी कृपा की, जिससे ज्ञात हुआ कि वह प्रति आराकी उपर्युक्त नं. ९ की प्रति पर से पं. रोशनलालद्वारा सं. १९८९ में लिखी गई है, और उसी परसे झालरापाटन ऐलक पन्नालाल दि. जैन सरस्वतीभवन के लिए प्रति कराई गई है। सागरकी सत्तर्कसुधातरंगिणी पाठशालाकी प्रतिका जो परिचय वहां के प्रधानाध्यापक पं. दयाचंदजी शास्त्रीने भेजने की कृपा की है, उससे ज्ञात हुआ है कि सिवनी की प्रति सागरकी प्रतिपरसे ही की गई है। शेष प्रतियोंका हमें हमारी प्रश्नावलीके उत्तरमें कोई परिचय भी नहीं मिल सका।

इससे स्पष्ट है कि स्वयं सीताराम शास्त्रीके हाथकी लिखी हुई जो तीन प्रतियां कारंजा, आरा और सागरकी हैं, उनमेंसे पूर्व दोका तो हमने सीधा उपयोग किया है और सागरकी प्रतिका उसकी अमरावतीवाली प्रतिलिपि परसे लाभ लिया है।

धवल सिद्धान्तकी प्रतियोंकी पूर्वोक्त परम्पराका निदर्शक

वंशवृक्ष

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

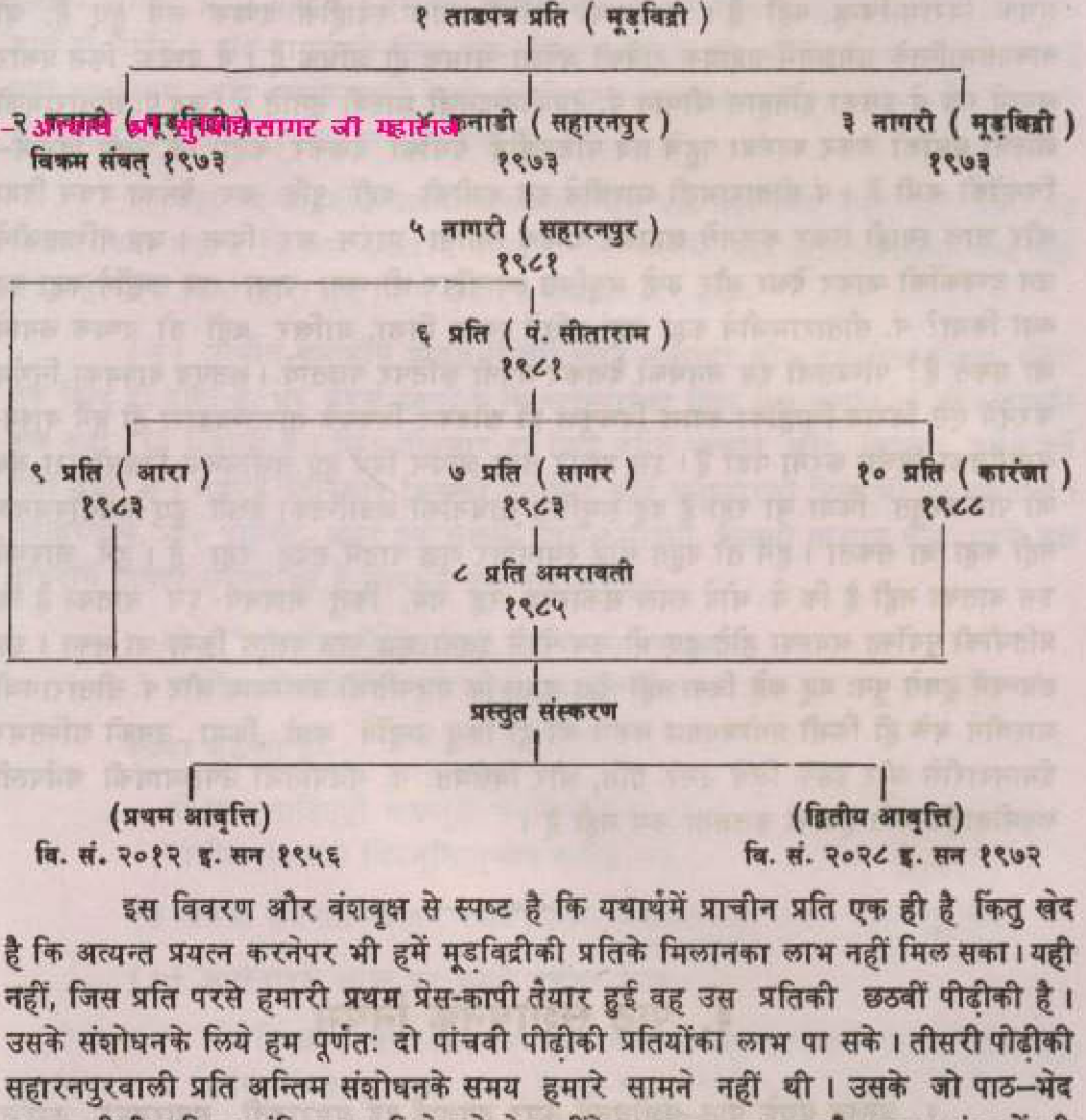

इस विवरण और वंशवृक्ष से स्पष्ट है कि यथार्थमें प्राचीन प्रति एक ही है किंतु खेद है कि अत्यन्त प्रयत्न करनेपर भी हमें मूड़बिद्रीकी प्रतिके मिलानका लाभ नहीं मिल सका। यही नहीं, जिस प्रति परसे हमारी प्रथम प्रेस-कापी तैयार हुई वह उस प्रतिकी छठवीं पीढ़ीकी है। उसके संशोधनके लिये हम पूर्णतः दो पांचवी पीढ़ीकी प्रतियोंका लाभ पा सके। तीसरी पीढ़ीकी सहारनपुरवाली प्रति अन्तिम संशोधनके समय हमारे सामने नहीं थी। उसके जो पाठ–भेद अमरावतीकी प्रतिपर अंकित कर लिये गये थे उन्हींसे लाभ उठाया गया है। इस परंपरामें भी दो पीढ़ियोंकी प्रतियां गुप्त रीतिसे की गई थीं। ऐसी अवस्थामें पाठ-संशोधनका कार्य कितना कठिन हुआ है यह वे पाठक विशेषरूपसे समझ सकेंगे जिन्हें प्राचीन ग्रंथोंके संशोधनका कार्य पड़ा है। भाषाके प्राकृत होने और विषयकी अत्यन्त गहनता और दुरूहताने संशोधन कार्य और भी जटिल बना दिया था।

यह सब होते हुए भी हम प्रस्तुत ग्रंथ पाठकोंके हाथमें कुछ दृढ़ता और विश्वासके साथ दे रहे हैं। उपर्युक्त अवस्थामें जो कुछ सामग्री हमें उपलब्ध हो सकी उसका पूरा लाभ लेनेमें

कसर नहीं रखी गई। सभी प्रतियोंमें कहीं कहीं लिपिकारके प्रमादसे एक शब्दसे लेकर कोई सौ शब्दतक छूट गये हैं। इनकी पूर्ति एक दूसरी प्रतिसे कर ली गई है। प्रतियोंमें वाक्य-समाप्ति-सूचक विराम-चिन्ह नहीं हैं। कारंजाकी प्रतिमें लाल स्याहीके दण्डक लगे हुए हैं, जो वाक्यसमाप्तिके समझनेमें सहायक होनेकी अपेक्षा भ्रामक ही अधिक हैं। ये दण्डक किस प्रकार लगाये गये थे इसका इतिहास श्रीमान् पं. देवकीनन्दनजी शास्त्री सुनाते थे। जब पं. सीतारामजी शास्त्री ग्रंथोंको लेकर कारंजा पहुंचे तब पंडितजीने ग्रंथोंको देखकर कहा कि उनमें विराम-चिन्होंकी कमी है। पं सीतारामजी शास्त्रीने इस कमीकी वहीं पूर्ति कर देनेका वचन दिया और लाल स्याही लेकर कलमसे खटाखट दण्डक लगाना प्रारंभ कर दिया। जब पण्डितजीने उन दण्डकोंको जाकर देखा और उन्हे अनुचित स्थानोंपर भी लगा पाया तब उन्होंने कहा यह क्या किया? पं. सीतारामजीने कहां जहां प्रतिमें स्थान मिला, आखिर वहीं तो दण्डक लगाये जा सकते हैं? पण्डितजी इस अनर्थको देखकर अपनी कृतिपर पछताये। अतएव वाक्यका निर्णय करनेमें ऐसे विराम-चिन्होंका ख्याल बिलकुल ही छोडकर विषयके तारतम्यद्वारा ही हमें वाक्य-समाप्तिका निर्णय करना पड़ा है। इस प्रकार तथा अन्यत्र दिये हुए संशोधनके नियमोंद्वारा अब जो पाठ प्रस्तुत किया जा रहा है वह समुचित साधनोंकी अप्राप्तिको देखते हुए असंतोषजनक नहीं कहा जा सकता। हमें तो बहुत थोडे स्थानोंपर शुद्ध पाठमें संदेह रहा है। हमें आश्चर्य इस बातका नहीं है कि ये थोडे स्थल शंकास्पद रह गये, किंतु आश्चर्य इस बातका है कि प्रतियोंकी पूर्वोक्त अवस्था होते हुए भी उन परसे इतना शुद्ध पाठ प्रस्तुत किया जा सका। इस संबन्धमें हमसे पुनः यह कहे बिना नहीं रहा जाता कि गजपतिजी उपाध्याय और पं. सीतारामजी शास्त्रीने भले ही किसी प्रयोजनवश नकलें की हों किंतु उन्होंने कार्य किया उनकी शक्तिभर ईमानदारीसे और इसके लिये उनके प्रति, और विशेषतः पं. गजपतिजी उपाध्यायकी धर्मपत्नी लक्ष्मीबाईके प्रति हमारी कृतज्ञता कम नहीं है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

३. पाठ संशोधनके नियम

१. प्रस्तुत ग्रंथके पाठ-संशोधनमें ऊपर बतलाई हुई अमरावती, सहारनपुर, कारंजा और आराकी चार हस्तलिखित प्रतियोंका उपयोग किया गया है। यद्यपि ये सब प्रतियां एकही प्रतिकी प्रायः एक ही व्यक्तिद्वारा गत पंद्रह वर्षोंके भीतर की हुई नकलें हैं, तथापि उनसे पूर्वकी प्रति अलभ्य होनेकी अवस्थामें पाठ संशोधनमें इन चार प्रतियोंसे बहुत सहायता मिली है। कमसे कम उनके मिलानद्वारा भिन्न भिन्न प्रतियोंमें छूटे हुए भिन्न भिन्न पाठ, जो एक मात्रासे लगा कर लगभग सौ शब्दोंतक पाये जाते हैं, उपलब्ध हो गये और इस प्रकार कमसे कम उन सबकी उस एक आदर्श प्रतिका पाठ हमारे सामने आ गया। पाठका विचार करते समय सहारनपुरकी प्रति हमारे सामने नहीं थी, इस कारण उसका जितना उपयोग चाहिये उतना

हम नहीं कर सके। केवल उसके जो पाठ-भेद अमरावतीकी हस्त-प्रति पर अंकित कर लिये गये थे, उन्हींसे लाभ उठाया गया है। जहां पर अन्य सब प्रतियोंसे इसका पाठ भिन्न पाया गया वहां इसीको प्रामाण्य दिया गया है। ऐसे स्थल परिशिष्टमें दी हुई प्रति-मिलानकी तालिकाके देखनेसे ज्ञात हो जावेंगे। प्रति-प्रामा[illegible] किया गया है जहां वह विषय और व्याकरणको देखते हुये नितान्त आवश्यक जंचा। फिर भी वहां पर कमसे कम परिवर्तनद्वारा काम चलाया गया है।

२. जहां पर प्रतियोंके पाठ-मिलानमात्रसे शुद्ध पाठ नहीं मिल सका वहां पहले यह विचार किया गया है कि क्या कनाडीसे नागरी लिपि करनेमें कोई दृष्टि-दोषजन्य भ्रम वहां संभव है? ऐसे विचारद्वारा हम निम्न प्रकारके संशोधन कर सके–

(अ) प्राचीन कनाडीमें प्राकृत लिखते समय अनुस्वार और वर्ण-द्वित्व-बोधक संकेत एक बिन्दु ही होता है, भेद केवल इतना है कि अनुस्वारका बिन्दु कुछ छोटा (०) और द्वित्वका कुछ बड़ा (O) होता है। फिर अनुस्वार का बिन्दु वर्णसे पश्चात् और द्वित्वका वर्णसे पूर्व रखा जाता है। अतएव लिपिकार द्वित्वको अनुस्वार और अनुस्वारको द्वित्व भी पढ़ सकता है। उदाहरणार्थ, प्रो० पाठकने अपने एक लेखमें* त्रिलोकसारकी कनाडी ताडपत्र प्रति परसे कुछ नागरीमें गाथाएं उद्धृत की हैं जिनमेंसे एक यहां देते हैं–

सो उ°म°गाहिमुहो चउ°मुहो सदरि-वास-परमाऊ।
चालीस र°जओ जिदभूमि पु°छइ स-मंति-गणं॥

इसका शुद्धरूप है–

सो उम्मग्गाहिमुहो चउम्मुहो सदरि-वास-परमाऊ।
चालीस–रज्जओ जिदभूमि पुच्छइ स-मंति-गणं॥

ऐसे भ्रमकी संभवता ध्यानमें रखकर निम्न प्रकारके पाठ सुधार लिये गये हैं–

(१) अनुस्वारके स्थान पर अगले वर्णका द्वित्व–

अंगं गिज्झा–अंगग्गिज्झा (पृ. ६); लक्खणं खइणो–लक्खणक्खइणो (पृ. १६) संबंध–संबद्ध (पृ. २६, २९४,) वंस–वस्स (पृ. १११) आदि।

(२) द्वित्वके स्थानपर अनुस्वार–

भग्ग–भंग (पृ. ५०) अक्कुलेसर–अंकुलेसर (पृ. ७२) कक्खा–कंखा (पृ. ७४) समिइवइस्सया दंतं–समिइवइं सया दंतं (पृ.७) सव्वेयणी–संवेयणी (पृ. १०५) ओरालिय त्ति ओरालियं ति (पृ. २९३) पावग्गालिय–पावं गालिय (पृ. ४९) पडिमव्वा–पडिमं वा (पृ. ५९) इत्यादि।

---

* Bhandarkar commemoration Vol., 1917, P. 221.

(आ) कनाड़ीमें द और ध प्रायः एकसे ही लिखे जाते हैं जिससे एक दूसरेमें भ्रम हो सकता है।

द–ध, दरिद–धरिद (पृ. ३०) ध–द, टुविध–टुविद (पृ. २१) हरघणु-हरदणु (पृ. २७५) इत्यादि।

(इ) कनाड़ीमें थ और ध में अन्तर केवल वर्णके मध्यमें एक बिंदुके रहने न रहनेका है, अतएव इनके लिखने पढ़नेमें भ्रान्ति हो सकती है। अतः कथं के स्थानपर कधं और इसको तथा पूर्वोक्त अनुस्वार द्वित्व-विभ्रमको ध्यानमें रखकर संबंधोवा के स्थान पर सव्वत्थोवा कर दिये गये हैं।

यद्यपि शौरसेनीके नियमानुसार कथं आदिमें थ के स्थान पर ध ही रक्खा है, किंतु जहां ध करनेसे किसी अन्य शब्दसे भ्रम होनेकी संभावना हुई वहां थ ही रहने दिया। उदाहरणार्थ– किसी किसी प्रतिमें 'गंथो' के स्थान पर 'गंधो' भी है किंतु हमने 'गंथो' ही रक्खा है।

(ई) ऱ्हस्व और दीर्घ स्वरोंमें बहुत व्यत्यय पाया जाता है, विशेषतः प्राकृत रूपोंमें। इसका कारण यही जान पड़ता है कि प्राचीन कनाड़ी लिपिमें ऱ्हस्व और दीर्घका कोई भेद ही नहीं किया जाता। अतः संशोधनमें ऱ्हस्वत्व और दीर्घत्व व्याकरणके नियमानुसार रक्खा गया है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

(उ) प्राचीन कनाड़ी ग्रंथोंमें बहुधा आदि ल के स्थान पर अ लिखा मिलता है जैसा कि प्रो. उपाध्येने परमात्मप्रकाशकी भूमिकामें (पृ. ८३ पर) कहा है। हमें भी पृ. ३२८ की अवतरण गाथा नं. १६९ में 'अहइ' के स्थान पर 'लहइ' करना पड़ा।

३. प्रतियोंमें न और ण के द्वित्वको छोडकर शेष पंचमाक्षरोंमें हलंत रूप नहीं पाये जाते। किंतु यहां संशोधित संस्कृतमें पंचमाक्षर यथास्थान रक्खे गये हैं।

४. प और य में प्राचीन कनाड़ी तथा वर्तमान नागरी लिपिमें बहुधा भ्रम पाया जाता है। यही बात हमारी प्रतियोंमें भी पाई गई। अतः संशोधनमें वे दोनों यथास्थान रक्खे गये हैं।

५. प्रतियोंमें ब और व का भेद नहीं दिखाई देता, सर्वत्र व ही दिखाई देता है। अतः संशोधनमें दोनों अक्षर यथास्थान रक्खे गये हैं। प्राकृतमें व या ब संस्कृतके वर्णानुसार रक्खा गया है।

६. 'अरिहंतः' संस्कृतमें अकारांतके रूपसे प्रतियोंमें पाया जाता है। हमने उसके स्थानपर संस्कृत नियमानुसार अरिहंता ही रक्खा है। (देखो, भाषा व व्याकरणका प्रकरण)

७. ग्रंथमें संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओंका खूब उपयोग हुआ है, तथा प्रतियोंकी नकल करनेवाले संस्कृतके ही जानकर रहे हैं। अतएव बहुत स्थानोंपर प्राकृतके बीच संस्कृतके और संस्कृतके बीच प्राकृतके रूप आ गये हैं। ऐसे स्थानो पर शुद्ध करके उनके प्राकृत और संस्कृत रूप ही दिये गये हैं। जैसे, इदि–इति, वणं–वनं, गदि–गति, आदि।

८. प्रतियोंमें अवतरण गाथाएं प्रायः अनियमितरूपसे उक्तं च या उत्तं च कहकर उद्धृत की गई हैं। नियमके लिये हमने सर्वत्र संस्कृत पाठके पश्चात् उक्तं च और प्राकृत पाठके पश्चात् उत्तं च रक्खा है।

९. प्रतियोंमें संधिके संबंधमें भी बहुत अनियम पाया जाता है। हमने व्याकरणके संधिसंबंधी नियमोंको ध्यानमें रखकर यथाशक्ति मूलके अनुसार ही पाठ रखनेका प्रयत्न किया है, किंतु जहां विराम चिन्ह आगया है वहां संधि अवश्य ही तोड़ दी गई है।

१०. प्रतियोंमें प्राकृत शब्दोंमें लुप्त व्यंजनोंके स्थानोंमें कहीं य श्रुति पाई जाती है और कहीं नहीं। हमने यह नियम पालनेका प्रयत्न किया है कि जहां आदर्श प्रतियोंमें अवशिष्ट स्वर ही हो वहां यदि संयोगी स्वर अ या आ हो तो य श्रुतिका उपयोग करना, नहीं तो य श्रुतिका उपयोग नहीं करना। प्रतियोंमें अधिकांश स्थानोंपर इसी नियमका प्रभाव पाया जाता है। पर ओ के साथ भी बहुत स्थानों पर य श्रुति मिलती है और ऊ अथवा ए के साथ क्वचित् ही, अन्य स्वरोंके साथ नहीं।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

(१) ओ के साथ य श्रुतिके उदाहरण–
भणियो, जाणयो, विसारयो, पारयो, आदि।

(२) ऊके साथ–वज्जियूण

(३) ए के साथ–परिणयेण (परिणतेन) एक्कारसीये, आदीये, इत्यादि।

४. षट्खंडागमके रचयिता

प्रस्तुत ग्रंथके अनुसार (पृ. ६८) षट्खंडागमके विषयके ज्ञाता धरसेनाचार्य थे, जो सोरठ देशके गिरिनगरकी चन्द्रगुफामें ध्यान करते थे। नंदिसंघकी प्राकृत पट्टावलीके अनुसार

आचार्य धरसेन

वे आचारांग के पूर्ण ज्ञाता थे किन्तु 'धवला' के शब्दोंमें वे अंगों और पूर्वोंके एकदेश ज्ञाता थे। कुछ भी हो वे थे भारी विद्वान् और श्रुत–वत्सल। उन्हें इस बातकी चिंता हुई कि उनके पश्चात् श्रुतज्ञानका लोप हो जायगा, अतः उन्होंने महिमा नगरीके मुनिसम्मेलनको पत्र लिखा जिसके फलस्वरूप वहांसे दो मुनि उनके पास पहुंचे। आचार्यने उनकी बुद्धिकी परीक्षा करके उन्हें सिद्धान्त पढ़ाया। ये दोनों मुनि पुष्पदंत और भूतबलि थे। धरसेनाचार्यने इन्हें सिखाया तो उत्तमतासे किंतु ज्यों ही आषाढ शुक्ला एकादशीको अध्ययन पूरा हुआ त्योंही वर्षाकालके बहुत समीप होते हुए भी उन्हें उसी दिन[1] अपने पाससे विदा कर दिया। दोनों शिष्योंने गुरुकी बात अनुल्लंघनीय मानकर

१ इन्द्रनन्दिके अनुसार धरसेनाचार्यने उन्हें दूसरें दिन विदा किया।

उसका पालन किया और वहांसे चलकर अंकुलेश्वरमें[1] चातुर्मास किया। धरसेनाचार्यने इन्हें वहांसे तत्क्षण क्यों रवाना कर दिया यह प्रस्तुत ग्रंथमें नहीं बतलाया गया है। किंतु इन्द्रनन्दि-कृत श्रुतावतार तथा विबुध श्रीधरकृत श्रुतावतारमें लिखा है कि धरसेनाचार्यको ज्ञात हुआ कि उनकी मृत्यु निकट है, अतएव इन्हें उस कारण क्लेश न हो इससे उन्होंने उन मुनियोंको तत्काल अपने पाससे विदा कर दिया[2]। संभव है उनके वहां रहनेसे आचार्यके ध्यान और तपमें विघ्न होता, विशेषतः जब कि वे श्रुतज्ञानका रक्षासंबन्धी अपना कर्तव्य पूरा कर चुके थे। वे संभवतः यह भी चाहते होंगे कि उनके वे शिष्य वहांसे जल्दी निकल कर उस श्रुतज्ञानका प्रचार करें। जो भी हो, धरसेनाचार्यकी हमें फिर कोई छटा देखनेको नहीं मिलती, वे सदाके लिये हमारी आंखोंसे ओझल हो गये।

धवलाकारने धरसेनाचार्यके गुरुका नाम नहीं दिया। इन्द्रनन्दिके श्रुतावतारमें लोहार्य तककी गुरुपरम्पराके पश्चात् विनयदत्त, श्रीदत्त, शिवदत्त और अर्हद्दत्त इन चार आचार्योंका उल्लेख किया गया है। वे सब अंगों और पूर्वोंके एकदेश ज्ञाता थे। इनके पश्चात् अर्हद्बलिका उल्लेख आया है। अर्हद्बलि बडे भारी संघनायक थे। वे पूर्वदेशमें पुंड्रवर्धनपुरके कहे गये हैं। उन्होंने पंचवर्षीय युग-प्रतिक्रमणके समय बडा भारी यति-सम्मेलन किया जिसमें सौ योजनके यति एकत्र हुए। उनकी भावनाओं परसे उन्होंने जान लिया कि अब पक्षपातका जमाना आगया है। अतः उन्होंने नन्दि, वीर, अपराजित, देव, पंचस्तूप, सेन, भद्र, गुणधर, गुप्त, सिंह, चंद्र आदि नामोंसे भिन्न भिन्न संघ स्थापित किये जिसमें एकत्व और अपनत्वकी भावनासे खूब धर्मवात्सल्य और धर्मप्रभावना बढे।

आचार्य अर्हद्बलि और माघनन्दि

श्रुतावतारके अनुसार अर्हद्बलिके अनन्तर माघनन्दि हुए जो मुनियोंमें श्रेष्ठ थे। उन्होंने अंगों और पूर्वोंका एकदेश प्रकाश फैलाया और पश्चात् समाधिमरण किया। उनके पश्चात् ही सौराष्ट्र देशके गिरिनगरके समीप ऊर्जयन्त पर्वतकी चन्द्रगुफाके निवासी धरसेनाचार्यका वर्णन आया है।

इन चार आरातीय यतियों और अर्हद्बलि, माघनन्दि व धरसेन आचार्योंके बीच इन्द्रनन्दिने कोई गुरु-शिष्य-परम्पराका उल्लेख नहीं किया। केवल अर्हद्बलि आदि तीन आचार्योंमें एकके पश्चात् दूसरेके होनेका स्पष्ट संकेत किया है। पर इन तीनोंके गुरु-शिष्य तारतम्यके सवन्धमें भी उन्होंने कुछ नहीं कहा। यही नहीं प्रत्युत उन्होंने स्पष्ट कह दिया है कि—

> गुणधरधरसेनान्वयगुर्वोः पूर्वापरक्रमोऽस्माभिः।
> न ज्ञायते तदन्वयकथकागममुनिजनाभावात् ॥ १५१ ॥

---

१ इन्द्रनन्दिने इस पत्तनका नाम कुरीश्वर दिया है। वहां वे नौ दिनकी यात्रा करके पहुंचे।

२ स्वासन्नमृतिं ज्ञात्वा मा भूत्संक्लेशमेतयोरस्मिन्। इति गुरुणा संचिन्त्य द्वितीयदिवसे ततस्तेन। इन्द्रनन्दि, श्रुतावतार. आत्मनो निकटमरणं ज्ञात्वा धरसेनस्तयोर्मा क्लेशो भवतु इति मत्वा तन्मुनिविसर्जनं करिष्यति। विबुधश्रीधर, श्रुतावतार. मा. दि. जै. ग्रं. २१, पृ. ३१७.

अर्थात् गुणधर और धरसेनकी पूर्वापर गुरुपरम्परा हमें ज्ञात नहीं है, क्योंकि, उसका वृत्तान्त न तो हमें किसी आगममें मिला और न किसी मुनिने ही बतलाया।

किंतु नन्दिसंघकी प्राकृत पट्टावलीमें अर्हद्बलि, माघनन्दि और धरसेन तथा उनके पश्चात् पुष्पदन्त और भूतबलिको एक दूसरेके उत्तराधिकारी बतलाया है जिससे ज्ञात होता है कि धरसेनके दादागुरु अर्हद्बलि और गुरु माघनन्दि थे।

नन्दिसंघकी संस्कृत गुर्वावलीमें भी माघनन्दिका नाम आया है। इस पट्टावलीके प्रारंभमें भद्रबाहु और उनके शिष्य गुप्तिगुप्तकी वंदना की गई है, किंतु उनके नामके साथ संघ आदिका उल्लेख नहीं किया गया है। उनकी वन्दनाके पश्चात् मूलसंघमें नन्दिसंघ बलात्कारगणके उत्पन्न होनेके साथ ही माघनन्दिका उल्लेख किया गया है। संभव है कि संघभेदके विधाता अर्हद्बलि आचार्यने उन्हें ही नन्दिसंघका अग्रणी बनाया हो। उनके नामके साथ 'नन्दि' पद होनेसे भी उनका इस गणके साथ संबन्ध प्रकट होता है। यथा—

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

श्रीमानशेषनरनायकवन्दितांघ्रिः श्रीगुप्तिगुप्त इति विश्रुतनामधेयः।
यो भद्रबाहुमुनिपुंगवपट्टपद्मः सूर्यः स वो दिशतु निर्मलसंघवृद्धिम् ॥ १ ॥
श्रीमूलसंघेऽजनि नन्दिसंघः तस्मिन्बलात्कारगणोऽतिरम्यः।
तत्राभवत्पूर्वपदांशवेदी श्रीमाघनन्दी नरदेववन्द्यः ॥ २ ॥

जै. सि. भा. १, ४, पृ. ५१.

पट्टावलीमें इनके पट्टधारी जिनचंद्र और उनके पश्चात् पद्मनन्दि कुन्दकुन्दका उल्लेख किया गया है, पर धरसेनका नहीं। अतः संशय हो सकता है कि ये वे ही धरसेनके गुरु हैं या नहीं। किंतु उनके 'पूर्वपदांशवेदी' अर्थात् पूर्वोके एकदेशको जाननेवाले, ऐसे विशेषणसे पता चलता है कि ये वे ही हैं। पट्टावलीमें उनके शिष्य धरसेनका उल्लेख न आनेका कारण यह हो सकता है कि धरसेन विद्यानुरागी थे और वे संघसे अलग रहकर शास्त्राभ्यास किया करते थे। अतः उनकी अनुपस्थितिमें संघका नायकत्व माघनन्दिके अन्य शिष्य जिनचन्द्रपर पड़ा हो। उधर धरसेनाचार्यने अपनी विद्याद्वारा शिष्यपरम्परा पुष्पदन्त और भूतबलिद्वारा चलाई।

माघनन्दिका उल्लेख 'जंबूदीवपण्णत्ति' के कर्ता पद्मनन्दिने भी किया है और उन्हें राग, द्वेष और मोह से रहित, श्रुतसागरके पारगामी, मति-प्रगल्भ, तप और संयमसे सम्पन्न तथा विख्यात कहा है। इनके शिष्य सकलचंद्र गुरु थे जिन्होंने सिद्धान्तमहोदधिमें अपने पापरूपी मैल धो डाले थे। उनके शिष्य श्रीनन्दि गुरु हुए जिनके निमित्त जंबूदीवपण्णत्ति लिखी गई। यथा–

गय–राय–दोस–मोहो सुद–सायर–पारओ मइ–पगब्भो।
तव-संजम-संपण्णो विक्खाओ माघनंदि-गुरू ॥ १५४ ॥
तस्सेव य वरसिस्सो सिद्धंत-महोदहिम्मि धुय-कलुसो।
णय-णियम-सील-कलिदो गुणउत्तो सयलचंद-गुरू ॥ १५५ ॥
तस्सेव य वर-सिस्सो णिम्मल-वर-णाण-चरण-संजुत्तो।
सम्मद्दंसण-सुद्धो सिरिणंदि-गुरु त्ति विक्खाओ ॥ १५६ ॥

तस्स णिमित्तं लिहियं जंबूदीवस्स तह य पण्णत्ती ।
जो पढइ सुणइ एदं सो गच्छइ उत्तमं ठाणं ॥ १५७ ॥

(जैन साहित्य संशोधक, खं. १. जंबूदीवपण्णत्ति. लेखक पं. नाथूरामजी प्रेमी)

यथा–जंबूदीवपण्णत्तिका रचनाकाल निश्चित नहीं है। किन्तु यहां माघनन्दिको श्रुतसागर पारगामी कहा है जिससे जान पड़ता है कि संभवतः यहां हमारे माघनन्दिसे ही तात्पर्य है।

माघनन्दि सिद्धान्तवेदीके संबन्धका एक कथानक भी प्रचलित है। कहा जाता है कि माघनन्दि मुनि एकबार चर्याके लिये नगरमें गये थे। वहां एक कुम्हारकी कन्याने इनसे प्रेम प्रगट किया और वे उसीके साथ रहने लगे। कालान्तरमें एकबार संघमें किसी सैद्धान्तिक विषयपर मतभेद उपस्थित हुआ और जब किसीसे उसका समाधान नहीं हो सका तब संघनायकने आज्ञा दी कि इसका समाधान माघनन्दिके पास जाकर किया जाय। अतः साधु माघनन्दिके पास पहुंचे और उनसे ज्ञानकी व्यवस्था मांगी। माघनन्दिने पूछा, 'क्या संघ मुझे अब भी यह सत्कार देता है?' मुनियोंने [illegible] मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज' यह सुनकर माघनन्दीको पुनः वैराग्य हो गया और वे अपने सुरक्षित रखे हुए पीछी कमंडलु लेकर पुनः संघमें आ मिले। जैन सिद्धान्तभास्कर, सन् १९१३, अंक ४, पृष्ठ १५१ पर 'एक ऐतिहासिक स्तुति' शीर्षकसे इसी कथानकका एक भाग छपा है और उसके साथ सोलह श्लोकोंकी एक स्तुति छपी है जिसे कहा है कि माघनन्दिने अपने कुम्हार-जीवनके समय कच्चे घडोंपर थाप देते समय गाते गाते बनाया था।

यदि इस कथानकमें कुछ तथ्यांश हो भी तो संभवतः वह उन माघनन्दि नामके आचार्योंमेंसे किसी एकके संबन्धका हो सकता है जिनका उल्लेख श्रवणबेलगोलके अनेक शिलालेखोंमें आया है। (देखो जैनशिलालेखसंग्रह). इनमेंसे नं. ४७१ के शिलालेखमें शुभचंद्र त्रैविद्यदेवके गुरु माघनन्दि सिद्धान्तदेव कहे गये हैं। शिलालेख नं. १२९ में विना किसी गुरु-शिष्य संबन्धके माघनन्दिको जगत्प्रसिद्ध सिद्धान्तवेदी कहा है। यथा––

नमो नम्रजनानन्दस्यन्दिने **माघनन्दिने ।**
जगत्प्रसिद्धसिद्धान्तवेदिने चित्प्रमोदिने ॥ ४ ॥

ये दोनों आचार्य हमारे षट्खण्डागमके सच्चे रचयिता हैं। प्रस्तुत ग्रंथमें इनके प्रारम्भिक नाम, धाम व गुरु-परम्पराका कोई परिचय नहीं पाया जाता। धवलाकारने उनके संबन्धमें केवल इतना ही कहा है कि जब महिमा नगरीमें सम्मिलित यतिसंघको धरसेनाचार्यका पत्र मिला तब उन्होंने श्रुत-रक्षासंबन्धी उनके अभिप्रायको समझकर अपने संघमेंसे दो साधु चुने जो विद्याग्रहण करने और स्मरण रखनेमें समर्थ थे, जो अत्यन्त विनयशील थे, शीलवान् थे, जिनका देश, कुल और जाति शुद्ध था और जो समस्त कलाओंमें पारंगत थे। उन दोनोंको धरसेनाचार्यके पास गिरिनगर (गिरनार) भेज दिया। धरसेनाचार्यने उनकी परीक्षा की। एकको

आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलि

अधिकाक्षरी और दूसरेको हीनाक्षरी विद्या बताकर उनसे उन्हे षष्ठोपवाससे सिद्ध करनेको कहा। जब विद्याएं सिद्ध हुई तो एक बडे बडे दांतोंवाली और दूसरी कानी देवीके रूपमें प्रगट हुई। इन्हें देख कर चतुर साधकोंने जान लिया कि उनके मंत्रोंमें कुछ त्रुटि है। उन्होंने विचारपूर्वक उनके अधिक और हीन अक्षरोंकी कमी वेशी करके पुनः साधना की, जिससे देवियां अपने स्वाभाविक सौम्यरूपमें प्रकट हुई। उनकी इस कुशलतासे गुरुने जान लिया कि ये सिद्धान्त सिखानेके योग्य पात्र हैं। फिर उन्हें क्रमसे सब सिद्धान्त पढ़ा दिया। यह श्रुताभ्यास आषाढ़ शुक्ला एकादशीको समाप्त हुआ और उसी समय भूतोंने पुष्पोपहारोंद्वारा शंख, तूर्य और वादित्रोंकी मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज ध्वनिके साथ एक बड़ी पूजा की। इससे आचार्यश्रीने उनका नाम भूतबलि रक्खा। दूसरेकी दंतपंक्ति अस्त-व्यस्त थी, उसे भूतोंने ठीक कर दी, इससे उनका नाम पुष्पदन्त रक्खा गया। ये ही दो आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलि षट्खण्डागमके रचयिता हुए।

इन दोनोंने धरसेनाचार्यसे सिद्धान्त सीखकर ग्रंथ-रचना की, अतः धरसेनाचार्य उनके शिक्षागुरु थे। पर उनके दीक्षागुरु कौन थे इसका कोई उल्लेख प्रस्तुत ग्रंथमें नहीं मिलता। ब्रह्म नेमिदत्तने अपने आराधना-कथाकोषमें भी धरसेनाचार्यकी कथा दी है। उसमें कहा है कि धरसेनाचार्यने जिस मुनिसंघको पत्र भेजा था उसके संघाधिपति महासेनाचार्य थे और उन्हींने अपने संघमेंसे पुष्पदन्त और भूतबलिको उनके पास भेजा। यह कहना कठिन है कि ब्रह्म नेमिदत्तने संघाधिपतिका नाम कथानकके लिये कल्पित कर लिया है या वे किसी आधार परसे उसे लिख रहे हैं।

विबुध श्रीधरने अपने श्रुतावतारमें भविष्यवाणी के रूपमें एक भिन्न ही कथानक दिया है जो इस प्रकार है—

इसी भरतक्षेत्रके वांमिदेश (ब्रह्मदेश?) में वसुंधरा नामकी नगरी होगी। वहांके राजा नरवाहन और रानी सुरूपाको पुत्र न होनेसे राजा खेदखिन्न होगा। तब सुबुद्धि नामके सेठ उन्हें पद्मावतीकी पूजा करनेका उपदेश देंगे। राजाके तदनुसार देवीकी पूजा करनेपर पुत्रप्राप्ति होगी और वे उस पुत्रका नाम पद्म रक्खेंगे। फिर राजा सहस्रकूट चैत्यालय बनवावेंगे और प्रतिवर्ष यात्रा करेंगे। सेठजी भी राजप्रासादसे पद पदपर पृथ्वीको जिनमंदिरोंसे मंडित करेंगे। इसी समय वसंत ऋतुमें समस्त संघ वहां एकत्र होगा और राजा सेठजीके साथ जिनपूजा करके रथ चलावेंगे। उसी समय राजा अपने मित्र मगधस्वामीको मुनींद्र हुआ देख सुबुद्धि सेठके साथ वैराग्यसे जैनी दीक्षा धारण करेंगे। इसी समय एक लेखवाहक वहां आवेगा। वह जिन देवोंको नमस्कार करके व मुनियोंकी तथा (परोक्षमें) धरसेन गुरुकी वन्दना करके लेख समर्पित करेगा। वे मुनि उसे वांचेंगे कि गिरिनगरके समीप गुफावासी धरसेन मुनीश्वर आग्रायणीय पूर्वकी पंचम वस्तुके चौथे प्राभृतशास्त्रका व्याख्यान प्रारम्भ करनेवाले हैं। धरसेन भट्टारक कुछ दिनोंमें नरवाहन और सुबुद्धि नामके मुनियों को पठन, श्रवण और चिन्तनक्रिया कराकर आषाढ़ शुक्ला एकादशीको शास्त्र समाप्त करेंगे। उनमेंसे एककी भूत रात्रिको बलिविधि करेंगे और दूसरेके चार दांतोंको सुन्दर बना देंगे। अतएव भूत-बलिके प्रभावसे नरवाहन मुनिका नाम

भूतबलि और चार दांत समान हो जानेसे सुबुद्धि मुनिका नाम पुष्पदन्त होगा[1]। इसके लेखकका समय आदि अज्ञात है और यह कथानक कल्पित जान पड़ता है। अतएव उसमें कही गई बातोंपर कोई जोर नहीं दिया जा सकता।

श्रवणबेलगोलके एक शिलालेख (नं. १०५) में पुष्पदन्त और भूतबलिको स्पष्ट रूपसे संघभेद-कर्ता अर्हद्बलिके शिष्य कहा है। यथा—

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

> यः पुष्पदन्तेन च भूतबल्याख्येनापि शिष्यद्वितयेन रेजे।
> फलप्रदानाय जगज्जनानां प्राप्तोऽङ्कुराभ्यामिव कल्पभूजः ॥ २५ ॥
> अर्हद्बलिस्संघचतुर्विधं स श्रीकोण्डकुन्दान्वयमूलसंघम्।
> कालस्वभावादिह जायमान-द्वेषेतराल्पीकरणाय चक्रे ॥ २६ ॥

यद्यपि यह लेख बहुत पीछे अर्थात् शक सं. १३२० का है, तथापि संभवतः लेखकने किसी आधार पर से ही इन्हें अर्हद्बलिके शिष्य कहा होगा। यदि ऐसा हो तो यह भी संभव है कि ये इन दोनोंके दीक्षा-गुरु हों और धरसेनाचार्यने जिस मुनि-सम्मेलनको पत्र भेजा था वह अर्हद्बलिका युग-प्रतिक्रमणके समय एकत्र किया हुआ समाज ही हो, और वहींसे उन्होंने अपने अत्यन्त कुशाग्रबुद्धि शिष्य पुष्पदन्त और भूतबलिको धरसेनाचार्यके पास भेजा हो। पट्टावलीके अनुसार अर्हद्बलिके अन्तिम समय और पुष्पदन्तके प्रारम्भ समयमें २१+१९=४० वर्षका अन्तर पड़ता है जिससे उनका समसामायिक होना असंभव नहीं है। केवल इतना ही है कि इस अवस्थामें, लेख लिखते समय धरसेनाचार्यकी आयु अपेक्षाकृत कम ही मानना पड़ेगी।

पुष्पदन्त और जिनपालित

प्रस्तुत ग्रन्थमें पुष्पदन्तका सम्पर्क एक और व्यक्तिसे बतलाया गया है। अंकुलेश्वरमें चातुर्मास समाप्त करके जब वे निकले तब उन्हें जिनपालित मिल गये और उनके साथ वे वनवास देशको चले गये[2]। ('जिणवालियं दट्ठूण पुप्फयंताइरियो वणवास-विसयं गदो' पृष्ठ ७१।) दट्ठूण का साधारणतः दृष्ट्वा अर्थात् देखकर अर्थ होता है। पर यहां पर यदि दट्ठूण का देखकर यही अर्थ ले लिया जाता है तो यह नहीं मालूम होता कि वहां जिनपालित कहांसे आ गये? दट्ठूणका अर्थ द्रष्टुं अर्थात् देखनेके लिये भी हो सकता है,[3] जिसका तात्पर्य यह होगा कि पुष्पदन्त अंकुलेश्वरसे निकलकर जिनपालितको देखनेके लिये वनवास चले गये। संगतिकी दृष्टिसे यह अर्थ ठीक बैठता है। इन्द्रनन्दिने जिनपालितको पुष्पदन्तका भागिनेय अर्थात् भनेज कहा, है। पर इस रिश्तेके कारण वे उन्हें देखनेके लिये गये यह कदाचित् साधुके आचारकी दृष्टिसे ठीक न समझा जाय इसलिये वैसा अर्थ नहीं किया। वनवास देशसे ही वे गिरिनगर

---

१ विबुधश्रीधर–श्रुतावतार (मा. जै. ग्रं. २१ सिद्धान्तसारादिसंग्रह, पृ. ३१६).

२ विबुध श्रीधरकृत श्रुतावतारके अनुसार पुष्पदन्त और भूतबलिने अंकुलेश्वरमें ही षडंग आगमकी रचना की। (तन्मुनिद्वयं अंकुलेसुरपुरे गत्वा मत्वा षडंगरचनां कृत्वा शास्त्रेषु लिखाप्य...)

३ जैसे, रामो तिसमुद्द-मेहलं पुहइं पालेऊण समत्थो। पउम च. ३१, ४०. संसार-गमण-भीओ इच्छइ घेत्तूणं पव्वज्जं। पउम च. ३१, ४८.

गये थे और वहांसे फिर वनवास देशको ही लौट गये। इससे यही प्रान्त पुष्पदन्ताचार्यकी जन्मभूमि ज्ञात होती है। वहां पहुंचकर उन्होंने जिनपालितको दीक्षा दी और 'वीसदि सूत्रों' की रचना करके उन्हें पढ़ाया, और फिर उन्हे भूतबलिके पास भेज दिया। भूतबलिने उन्हें अल्पायु जान, महाकर्मप्रकृति पाहुडके विच्छेद-भयसे द्रव्यप्रमाणसे लगाकर आगेकी ग्रन्थ-रचना की। इस प्रकार पुष्पदन्त और भूतबलि दोनों इस सिद्धान्त ग्रंथके रचयिता हैं और जिनपालित उस रचनाके निमित्त कारण हुए।

पुष्पदन्त और भूतबलिके बीच पुष्पदन्त ही जेठे प्रतीत होते हैं। आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज धवलाकारने अपनी टीकाके मंगलाचरणमें उन्हें ही पहले नमस्कार किया है और उन्हें 'इसि-समिइ-वइ' (ऋषिसमिति-पति) अर्थात् ऋषियों और मुनियोंकी सभाके नायक कहा है। उनकी ग्रंथ-रचना भी आदिमें हुई और भूतबलिने अपनी रचना अन्ततः उन्हींके पास भेजी जिसे देख वे प्रसन्न हुए। इन बातोंसे उनका ज्येष्ठत्व पाया जाता है। नन्दिसंघकी प्राकृत पट्टावलीमें वे स्पष्टतः भूतबलिसे पूर्व पट्टाधिकारी हुए बतलाये गये हैं।

पुष्पदन्त भूतबलीसे जेठे थे

वर्तमान ग्रंथमें पुष्पदन्तकी रचना कितनी है और भूतबलिकी कितनी, इसका स्पष्ट उल्लेख पाया जाता है। पुष्पदन्तने आदिके प्रथम 'वीसदि सूत्र' रचे। पर इन वीस सूत्रोंसे धवलाकारका समस्त सत्प्ररूपणाके वीस अधिकारोंसे तात्पर्य है, न कि आदिके २० नम्बर तकके सूत्रोंसे, क्योंकि, उन्होंने स्पष्ट कहा है कि भूतबलिने द्रव्यप्रमाणानुगमसे लेकर रचना की (पृ. ७१)। जहांसे द्रव्यप्रमाणानुगम अर्थात् संख्याप्ररूपणा प्रारंभ होती है वहांपर भी कहा गया है कि—

पुष्पदन्त और भूतबलिके बीच किसने कितना ग्रंथ रचा

संपहि चोद्दसण्हं जीवसमासाणमत्थित्तमवगदाणं सिस्साणं तेसिं चेव परिमाणं पडिवोहणट्ठं भूदबलियाइरियो सुत्तमाह।

अर्थात्—'अब चौदह जीवसमासोंके अस्तित्व को जान लेनेवाले शिष्योंकी उन्हीं जीवसमासोंके परिमाण बतलानेके लिये भूतबलि आचार्य सूत्र कहते है'।

इस प्रकार सत्प्ररूपणा अधिकारके कर्ता पुष्पदन्त और शेष समस्त ग्रंथके कर्ता भूतबलि ठहरते हैं।

धवलामे इस ग्रंथकी रचनाका इतना ही इतिहास पाया जाता है। इससे आगेका वृत्तान्त इन्द्रनन्दिकृत श्रुतावतारमें मिलता है। उसके अनुसार भूतबलि आचार्यने षट्खण्डागमकी रचना पुस्तकारूढ करके ज्येष्ठ शुक्ला ५ को चतुर्विध संघके साथ उन पुस्तकोंको उपकरण मान श्रुतज्ञानकी पूजा की जिससे श्रुतपंचमी तिथिकी प्रख्याति जैनियोंमें आजतक चली आती है और उस तिथिको वे श्रुतकी पूजा करते है'[1]। फिर भूतबलिने उन षट्खण्डागम पुस्तकोंको जिनपालितके हाथ

श्रुतपंचमीका प्रचार

---

१ ज्येष्ठसितपक्षपञ्चम्यां चातुर्वर्ण्यसंघसमवेतः। तत्पुस्तकोपकरणैर्व्यधात् क्रियापूर्वकं पूजाम् ॥१४३॥
श्रुतपञ्चमीति तेन प्रख्यातिं तिथिरियं परामाप। अद्यापि येन तस्यां श्रुतपूजां कुर्वते जैनाः ॥१४४॥
इन्द्रनन्दि-श्रुतावतार

पुष्पदन्त गुरुके पास भेजा। पुष्पदन्त उन्हें देखकर और अपने चिन्तित कार्यको सफल जान अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन्होंने भी चातुर्वर्ण संघसहित सिद्धान्तकी पूजा की।

५ आचार्य–परम्परा

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

धरसेनाचार्य से पूर्वकी गुरु–परम्परा

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि धरसेनाचार्य और उनसे सिद्धान्त सीखकर ग्रंथरचना करनेवाले पुष्पदन्त और भूतबलि आचार्य कब हुए ? प्रस्तुत ग्रंथ में इस सम्बन्ध की कुछ सूचना महावीर स्वामीसे लगाकर लोहाचार्य तक की परम्परासे मिलती है। वह परम्परा इस प्रकार है, महावीर भगवान्‌के पश्चात् क्रमशः गौतम, लोहार्य और जम्बूस्वामी समस्त श्रुत के ज्ञायक और अन्तमें केवलज्ञानी हुए। उनके पश्चात् क्रमशः विष्णु, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु, ये पांच श्रुतकेवली हुए। उनके पश्चात् विशाखाचार्य, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जय, नाग, सिद्धार्थ धृतिसेन, विजय, बुद्धिल, गंगदेव और धर्मसेन, ये ग्यारह एकादश अंग और दशपूर्वके पारगामी हुए। तत्पश्चात् नक्षत्र, जयपाल, पांडु, ध्रुवसेन और कंस, ये पांच एकादश अंगोंके धारक हुए, और इनके पश्चात् सुभद्र, यशोभद्र, यशोबाहु और लोहार्य, ये चार आचार्य एक आचारंग के धारक और शेष श्रुतके एकदेश ज्ञाता हुए। इसके पश्चात् समस्त अंगों और पूर्वोंका एकदेश ज्ञान आचार्य परम्परासे आकर धरसेनाचार्यको प्राप्त हुआ (६५–६६)। यह परम्परा इस प्रकार है—

महावीर की शिष्य–परम्परा

आचार्य	वर्ग
१ गौतम, २ लोहार्य, ३ जम्बू	३ केवली
४ विष्णु, ५ नन्दिमित्र, ६ अपराजित, ७ गोवर्धन, ८ भद्रबाहु	५ श्रुतकेवली
९ विशाखाचार्य, १० प्रोष्ठिल, ११ क्षत्रिय, १२ जय, १३ नाग, १४ सिद्धार्थ, १५ धृतिसेन, १६ विजय, १७ बुद्धिल, १८ गंगदेव, १९ धर्मसेन	११ दशपूर्वी
२० नक्षत्र, २१ जयपाल, २२ पाण्डु, २३ ध्रुवसेन, २४ कंस	५ एकादशांगधारी
२५ सुभद्र, २६ यशोभद्र, २७ यशोबाहु, २८ लोहार्य	४ आचारांगधारी

आचार्य-परम्परा में नाम भेद

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

ठीक यही परम्परा धवलामें आगे पुनः वेदनाखंडके आदिमें मिलती है। इन दोनों स्थानोंपर तथा बेल्गोलके शिलालेख नं. १ में नं. २ के आचार्य का नाम लोहार्य ही पाया जाता है, किन्तु हरिवंशपुराण, श्रुतावतार व ब्रम्ह हेमकृत श्रुतस्कंध व शिलालेख नं. १०५ (२५४) में उस स्थान पर सुधर्मका नाम मिलता है। यही नहीं, स्वयं धवलाकारद्वारा ही रची हुई 'जयधवला' में भी उस स्थानपर लोहार्य नहीं सुधर्मका नाम है। इस उलझनको सुलझानेवाला उल्लेख 'जंबूदीवपण्णत्ति' में पाया जाता है। वहां यह स्पष्ट कहा गया है कि लोहार्यका ही दूसरा नाम सुधर्म था। यथा—

'तेण वि लोहज्जस्स य लोहज्जेण य सुधम्मणामेण।
गणधर-सुधम्मणा खलु जंबूणामस्स णिद्दिट्ठं॥ १०॥

(जै. सा. सं. १ पृ. १४९)

नं. ४ पर विष्णुके स्थानमें भी नामभेद पाया जाता है। जंबूदीवपण्णत्ति, आदिपुराण व श्रुतस्कंधमें उस स्थानपर 'नन्दी' या नन्दीमुनि नाम मिलता है। यह भी लोहार्य और सुधर्मके समान एक ही आचार्यके दो नाम प्रतीत होते हैं। इस भेदका कारण यह प्रतीत होता है कि इन आचार्यका पूरा नाम विष्णुनन्दि होगा और वे ही एक स्थानपर संक्षेपसे विष्णु और दूसरे स्थानपर नन्दि नामसे निर्दिष्ट किये गये हैं। यही बात आगे नं. १८ के गंगदेवके विषयमें पाई जाती है।

नं. ५ और ६ के आचार्योंका शिलालेख नं १०५ में विपरीत क्रमसे उल्लेख किया गया है, अर्थात् वहां अपराजितका नाम पहिले और नंदिमित्र का पश्चात् किया गया है। संभवतः यह छंद-निर्वाहमात्रके लिये है, कोई भिन्न मान्यताका द्योतक नाही।

आगेके अनेक आचार्योंके नाम भी शिलालेख नं. १०५ में भिन्न क्रमसे दिये गये हैं जिसका कारण भी छंदरचना प्रतीत होता है और इसी कारण संभवतः धर्मसेनका नाम यहां भिन्न क्रमसे सुधर्म दिया गया है।

उसी प्रकार नं. ११ और १२ का उल्लेख श्रुतस्कंधमें विपरीत है, अर्थात् जयका नाम पहले और क्षत्रियका नाम पश्चात् दिया गया है। क्षत्रियके स्थानमें शिलालेख नं १ में कृत्तिकार्य नाम है जो अनुमानतः प्राकृत पाठ 'क्खत्तियारिय' का भ्रान्त संस्कृत रूप प्रतीत होता है। नंदिसंघकी प्राकृत पट्टावलीमें नं. १७ के बुद्धिलके स्थानपर बुद्धिलिंग व नं. १८ के गंगदेवके स्थानपर केवल 'देव' नाम है।

नं. २१ के जयपालके स्थानपर जयधवलामें 'जसफल' तथा हरिवंशपुराणमें यशःपाल नाम दिये हैं।

नं. २३ के ध्रुवसेनके स्थान पर श्रुतावतार व शिलालेख नं. १०५ में द्रुमसेन तथा श्रुतस्कंधमें 'धुतसेन' नाम है।

नं. २६ के यशोभद्रके स्थान पर श्रुतावतारमें 'अभयभद्र' नाम है।

नं. २७ के यशोबाहुके स्थानपर जयधवलामें जहबाहु, श्रुतावतारमें जयबाहु व नंदिसंघ प्राकृत पट्टावलीमें व आदिपुराणमें भद्रबाहु नाम है। संभवतः ये ही नंदिसंघकी संस्कृत पट्टावलीके भद्रबाहु द्वितीय हैं।

इन सब नाम-भेदोंका मूल कारण प्राकृत नामों परसे भ्रमवश संस्कृत रूप बनाना प्रतीत होता है। कहीं कहीं लिपिमें भ्रम होनेसे भी पाठ-भेद पड़ जाना संभव है।

उक्त आचार्य-परंपराका प्रस्तुत खण्डमें समय नहीं दिया गया है। किंतु धवलाके वेदनाखण्डके आदिमें, जयधवलामें व इन्द्रनन्दिकृत श्रुतावतारमें गौतम स्वामीसे लगाकर लोहार्य तकका समय मिलता है, जिससे ज्ञात होता है कि महावीर निर्वाणके पश्चात् क्रमशः ६२ वर्षमें तीन केवली, १०० वर्षमें पांच श्रुतकेवली, १८३ वर्षमें ग्यारह दशपूर्वी, २२० वर्षमें पांच एकादशांगधारी और ११८ वर्षमें चार एकांगधारी आचार्य हुए। इस प्रकार महावीर निर्वाणसे लोहाचार्य (द्वि.) तक ६२ + १०० + १८३ + २२० + ११८ = ६८३ वर्ष व्यतीत हुए और इसके पश्चात् किसी समय धरसेनाचार्य हुए।

धरसेनाचार्यके समयका विचार

अब प्रश्न यह है कि लोहाचार्यसे कितने समय पश्चात् धरसेनाचार्य हुए। प्रस्तुत ग्रन्थमें तो इसके संबन्धमें इतना ही कहा गया है कि इसके पश्चात् की आचार्य परम्परामें धरसेनाचार्य हुए (पृष्ठ ६७)। अन्यत्र जहां यह आचार्य परम्परा पाई जाती है वहां सर्वत्र वह परम्परा लोहाचार्य पर ही समाप्त हो जाती है। इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतारमें प्रस्तुत ग्रंथोंके निर्माणका वृत्तान्त विस्तारसे दिया है। किंतु लोहार्यके पश्चात् आचार्योंका क्रम स्पष्टतः सूचित नहीं किया। प्रस्तुत, जैसा ऊपर बता आये हैं, उन्होंने कहा है कि इन आचार्योंकी गुरु-परंपराका कोई निश्चय नहीं, क्योंकि, उसके कोई प्रमाण नहीं मिलते हैं। उन्होंने लोहार्यके पश्चात् चार और आचार्योंका नाम गिनाये हैं, विनयधर, श्रीदत्त, शिवदत्त और अर्हद्दत्त और उन्हें आरातीय तथा अंगों और पूर्वोके एकदेश ज्ञाता कहा है।

लोहार्यके पश्चात् चार आरातीय यतियोंका जिस प्रकार इन्द्रनन्दिने एकसाथ उल्लेख किया है उससे जान पड़ता है कि संभवतः वे सब एक ही कालमें हुये थे। इसीसे श्रीयुक्त पं. जुगलकिशोरजी मुख्तारने उन चारोंका एकत्र समय २० वर्ष अनुमान किया है। उनके पश्चात् के अर्हद्बलि आदि आचार्योंका समय मुख्तारजी क्रमशः १० वर्ष अनुमान करते हैं। (समन्तभद्र पृ. १६१) इसके अनुसार धरसेनाचार्यका समय वीरनिर्वाणसे ६८३ + २० + १० + १० = ७२३ वर्ष पश्चात् आता है।

किंतु नन्दिसंघकी प्राकृत पट्टावली इसका समर्थन नहीं करती। यथार्थतः यह पट्टावली अन्य सब परम्पराओं और पट्टावलियोंसे इतनी विलक्षण है और उन विलक्षणताओंका प्रस्तुत आचार्योंके काल-निर्णयसे इतना घनिष्ठ संबन्ध है कि उसका पूरा परिचय यहां देना आवश्यक

प्रतीत होता है और चूंकि यह पट्टावली, जहां तक हमें ज्ञात है, केवल **जैनसिद्धान्तभास्कर,** भाग १, किरण ४, सन् १९१३ में छपी थी जो अब अप्राप्य है, अतः उसे हम यहां पूरी बिना संशोधनका प्रयत्न किये उद्धृत करते हैं—

नन्दि–आम्नायकी पट्टावली

श्रीत्रैलोक्याधिपं नत्वा स्मृत्वा सद्गुरुभारतीम् ।
वक्ष्ये पट्टावलीं रम्यां मूलसंघगणाधिपाम् ॥ १ ॥
श्रीमूलसंघप्रवरे नन्द्याम्नाये मनोहरे ।
बलात्कारगणोत्तंसे गच्छे सारस्वतीयके ॥ २ ॥
कुन्दकुन्दान्वये श्रेष्ठमुत्पन्नं श्रीगणाधिपम् ।
तमेवात्र प्रवक्ष्यामि श्रूयतां सज्जना जनाः ॥ ३ ॥

पट्टावली

अंतीम-जिण-णिव्वाणे केवलणाणी य **गोयम-मुणिदो** ।
बारह-वासे य गये **सुधम्म**-सामी य संजादो ॥ १ ॥
तह बारह-वासे पुण संजादो **जम्बु**-सामि मुणिणाहो ।
मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज
[illegible] उक्किट्ठो ॥ २ ॥
वासट्ठि-केवल-वासे तिण्हि मुणी गोयम सुधम्म जंबू य ।
बारह बारह दो जण तिय दुगहीणं च चालीसं ॥ ३ ॥
सुयकेवलि पंच जणा बासट्ठि-वासे गये सुसंजादा ।
पढमं चउदह-वासं **विण्हुकुमारं** मुणेयव्वं ॥ ४ ॥
नंदिमित्त वास सोलह तिय **अपराजिय** वास बावीसं ।
इग-हीण-वीस वासं **गोवद्धण भद्दबाहु** गुणतीसं ॥ ५ ॥
सद सुयकेवलणाणी पंच जणा **विण्हु नंदिमित्तो** य ।
अपराजिय गोवद्धण तह **भद्दबाहु** य संजादा ॥ ६ ॥
सद-वासट्ठि सुवासे गए सु-उप्पण्ण दह सुपुव्वहरा ।
सद-तिरासि वासाणि य एगादह मुणिवरा जादा ॥ ७ ॥
आयरिय **विसाख पोट्ठल खत्तिय जयसेण नागसेण मुणी** ।
सिद्धत्थ धित्ति विजयं बुद्धिलिंग देव धमसेणं ॥ ८ ॥
दह उगणीस य सत्तर इकवीस अट्ठारह सत्तर ॥
अट्ठारह तेरह वीस चउदह चोदय (सोडस) कमेणेयं ॥ ९ ॥
अंतिम जिण-णिव्वाणे तियसय-पण-चालवास जादेसु ।
एगादहंगधारिय पंच जणा मुणिवरा जादा ॥ १० ॥
नक्खत्तो जयपालग पंडव धुवसेन कंस आयरिया ।
अठारह वीस-वासं गुणचालं चोद बत्तीसं ॥ ११ ॥

सद तेवीस वासे एगादह अंगधरा जादा ।
वासं सत्ताणवदिय दसंग नव अंग अट्ठधरा ॥ १२ ॥

सुभद्दं च जसोभद्दं भद्दबाहु कमेण च ।
लोहाचय्य मुणीसं च कहियं च जिणागमे ॥ १३ ॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

छह अट्ठारह वासे तेवीस बावण (पणास) वास मुणिणाहं ।
दस णव अट्ठंगधरा वास दुसदवीस सधेसु ॥ १४ ॥

पंचसये पणसठे अंतिम-जिण-समय-जादेसु ।
उप्पणा पंच जणा इयंगधारी मुणेयव्वा ॥ १५ ॥

अहिवल्लि माघनंदि य धरसेणं पुप्फयंत भूदबली ।
अडवीसं इगवीस उगणीसं तीस वीस वास पुणो ॥ १६ ॥

इगसय-अठार-वासे इयंगधारी य मुणिवरा जादा ।
छसय-तिरासिय-वासे णिव्वाणा अंगद्दित्ति कहिय जिणे ॥ १७ ॥

सत्तरि-चउ-सद-युतो तिणकाला विक्कमो हवइ जम्मो ।
अठ-वरस बाललीला सोडस-वासेहि भम्मिए देसे ॥ १८ ॥

पणरस-वासे रज्जं कुणंति मिच्छोवदेससंयुत्तो ।
चालीस-वरस जिणवर-धम्मं पालीय सुरपयं लहियं ॥ १९ ॥

प्राकृत पट्टावलीके अनुसार वीर निर्वाणके पश्चात् की कालगणना इसप्रकार आती है–

वीर निर्वाणके पश्चात्

१ गौतम	केवली	१२	९ विशाखाचार्य	दशपूर्वधारी	१०
२ सुधर्म	,,	१२	१० प्रोष्ठिल	,,	१९
३ जम्बूस्वामी	,,	३८	११ क्षत्रिय	,,	१७
			१२ जयसेन	,,	२१
		६२	१३ नागसेन	,,	१८
४ विष्णु	श्रुतकेवली	१४	१४ सिद्धार्थ	,,	१७
५ नन्दिमित्र	,,	१६	१५ धृतिषेण	,,	१८
६ अपराजित	,,	२२	१६ विजय	,,	१३
७ गोवर्धन	,,	१९	१७ बुद्धिलिंग	,,	२०
८ भद्रबाहु	,,	२९	१८ देव	,,	१४
			१९ धर्मसेन	,,	१४(१६)
		१००			
					१८१(१८३)

२० नक्षत्र	ग्यारह अंगधारी	१८	२८ लोहाचार्य	"	५२(५०)
					९९(९७)
२१ जयपाल	"	२०			
२२ पांडव	"	३९	२९ अर्हद्वलि	एक अंगधारी	२८
२३ ध्रुवसेन	"	१४	३० माघनन्दि	"	२१
२४ कंस	"	३२	३१ धरसेन	"	१९
		१२३	३२ पुष्पदन्त	"	३०
			३३ भूतबलि	"	२०
२५ सुभद्र	दश नव व आठ	६			११८
२६ यशोभद्र	अंगधारी	१८		कुलजोड़	६८३
२७ भद्रबाहु	"	२३			

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

इस पट्टावलीमें प्रत्येक आचार्यका समय अलग अलग निर्दिष्ट किया गया है, जो अन्यत्र नहीं पाया जाता, और समष्टिरूपसे भी वर्ष संख्यायें दी गई हैं। प्रथम तीन केवलियों, पांच श्रुतकेवलियों और ग्यारह दशपूर्वियोंका समय क्रमशः वही ६२, १००, और १८३ वर्ष बतलाया गया है और इसका योग ३४५ वर्ष कहा है। किन्तु दशपूर्वधारी एक एक आचार्यका जो काल दिया है उसका योग १८१ वर्ष आता है। अतएव स्पष्टतः कहीं दो वर्ष की भूल ज्ञात होती है, क्योंकि, नहीं तो यहां तकका योग ३४५ वर्ष नही आसकता। इसके आगे जिन पांच एकादशांगधारियोंका समय अन्यत्र २२० वर्ष बतलाया गया है उनका समय यहां १२३ वर्ष दिया है। इनके पश्चात् आगेके जिन चार आचार्योंको अन्यत्र एकांगधारी कह कर श्रुतज्ञानकी परंपरा पूरी कर दी गई है उन्हें यहां क्रमशः दश, नव और आठ अंगके धारक कहा है, पर यह स्पष्ट नहीं किया गया कि कौन कितने अंगोंका ज्ञाता था। इससे दश अंगोंका अचानक लोप नहीं पाया जाता, जैसा कि अन्यत्र। इनका समय ११८ वर्ष के स्थानपर ९७ वर्ष बतलाया गया है। पर आचार्योंका समय जोडनेसे ९९ आता है अतः दो वर्ष की यहां भी भूल है। तथा उनसे आगे पांच और आचार्योंके नाम गिनाये गये हैं जो एकांगधारी कहे गये हैं। उनके नाम अहिवल्लि (अर्हद्वलि) माघनन्दि, धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि हैं। इनका समय क्रमशः २८, २१, १९, ३० और २० वर्ष दिया गया है जिसका योग ११८ वर्ष होता है। इससे पूर्व श्रुतावतारमें विनयधर आदि जिन चार आचार्योंके नाम दिये गये हैं वे यहां नहीं पाये जाते। इस प्रकार इस पट्टावलीके अनुसार भी अंग-परंपराका कुल काल ६२+१००+१८३+१२३+९७+११८=६८३ वर्ष ही आता है जितना कि अन्यत्र बतलाया गया है। परंतु भेद यह है कि अन्यत्र यह काल लोहाचार्य तक ही पूरा कर दिया गया है और यहांपर उसके अन्तर्गत वे पांच आचार्य भी हो जाते हैं जिनके भीतर हमारे ग्रंथकर्ता धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि भी सम्मिलित हैं।

नन्दि-आम्नायकी पट्टावलीकी विशेषताएं

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि जो एकादशांगधारियों और उनके पश्चात्‌के आचार्योंके समयोंमें अन्तर पड़ता है वह क्यों और किसप्रकार ?

कालसंबन्धी अंकोंपर विचार करनेसे ही स्पष्ट हो जाता है कि जहां पर अन्यत्र पांच एकादशांगधारियों और चार एकांगधारियोंका समय अलग अलग २२० और ११८ वर्ष बतलाया गया है वहां इस पट्टावलीमें उनका समय क्रमशः १२३ और ९७ वर्ष बतलाया है अर्थात् २२० वर्षके भीतर नौ ही आचार्य आ जाते हैं और आगे ११८ वर्षमें अन्य पांच आचार्य गिनाये गये हैं जिनके अन्तर्गत धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि भी हैं।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

जहां अनेक क्रमागत व्यक्तियोंका समय समष्टिरूपसे दिया जाता है वहां बहुधा ऐसी भूल हो जाया करती है। किंतु जहां एक एक व्यक्तिका काल निर्दिष्ट किया जाता है वहां ऐसी भूलकी संभावना बहुत कम हो जाती है। हिन्दु पुराणोंमें अनेक स्थानोंपर दो राजवंशोंका काल एक ही वंशके साथ दे दिया गया है। स्वयं महावीर तीर्थंकरके निर्वाणसे पश्चात्‌के राजवंशोंका जो समय जैन ग्रंथोमें पाया जाता है उसमें भी इसप्रकारकी एक भूल हुई है, जिसके कारण वीरनिर्वाणके समयके संबन्धमें दो मान्यतायें हो गई हैं जिनमें परस्पर ६० वर्षका अन्तर पढ़ गया है। (देखो आगे वीरनिर्वाण संवत्)। प्रस्तुत परंपरामें इन २२० वर्षोंके कालमें भी ऐसा ही भ्रम हुआ प्रतीत होता है।

यह भी प्रश्न उठता है कि यदि अर्हद्बलि आदि आचार्य अंगज्ञाताओंकी परंपरामें थे तो उनके नाम सर्वत्र परंपराओंमें क्यों नहीं रहे, इसका कारण अर्हद्बलिके द्वारा स्थापित किया गया संघभेद प्रतीत होता है। उनके पश्चात् प्रत्येक संघ अपनी अपनी परंपरा अलग रखने लगा, जिसमें स्वभावतः संघभेदके पश्चात्‌के केवल उन्हीं आचार्योंके नाम रक्खे जा सकते थे जो उसी संघके हो या जो संघभेदसे पूर्वके हो। अतः केवल लोहार्य तककी ही परंपरा सर्वमान्य रही। संभव है कि इसी कारण काल-गणनामें भी वह गड़बडी आगई हो, क्योंकि अंगज्ञाताओंकी परंपराको संघ-पक्षपातसे बचानेके लिये लेखकोंका यह प्रयत्न हो सकता है कि अंग-परंपराका काल ६८३ वर्ष ही बना रहे और उसमें अर्हद्बलि आदि संघ-भेदसे संबन्ध रखनेवाले आचार्य भी न दिखाये जावें।

प्रश्न यह है कि क्या हम इस पट्टावलीको प्रमाण मान सकते हैं, विशेषतः जब कि उसकी वार्ता प्रस्तुत ग्रन्थों व श्रुतावतारादि अन्य प्रमाणोंके विरुद्ध जाती है? इस पट्टावलीकी जांच करनेके लिये हमने सिद्धान्तभवन आराको उसकी मूल हस्तलिखित प्रति भेजनेके लिये लिखा, किंतु वहांसे पं. भुजबलिजी शास्त्री सूचित करते हैं कि बहुत खोज करने पर भी उस पट्टावलीकी मूल प्रति मिल नहीं रही है। ऐसी अवस्थामें हमें उसकी जांच मुद्रित पाठ परसे ही करनी पड़ती है। यह पट्टावली प्राकृतमें है और संभवतः एक प्रतिपरसे बिना कुछ संशोधनके छपाई गई होनेसे उसमें अनेक भाषादि-दोष हैं। इसलिये उस परसे उसकी रचनाके समयके संबन्धमें कुछ कहना अशक्य है। पट्टावलीके ऊपर जो तीन संस्कृत श्लोक हैं उनकी रचना बहुत शिथिल है। तीसरा श्लोक सदोष है। पर उन पर विचार करनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि उनका रचयिता

स्वयं पट्टावलीकी रचना नहीं कर रहा, किंतु वह अपनी उस प्रस्तावनाके साथ एक प्राचीन पट्टावलीको प्रस्तुत कर रहा है। पट्टावलीको नन्दि आम्नाय, बलात्कार गण, सरस्वती गच्छ और कुन्दकुन्दान्वयकी कहनेका यह तो तात्पर्य हो ही नहीं सकता कि उसमें उल्लिखित आचार्य उस अन्वयमें कुन्दकुन्दके पश्चात् हुए हैं, किंतु उसका अभिप्राय यही है कि लेखक, उक्त अन्वयका था और ये सब आचार्य उक्त अन्वयमें माने जाते थे। इस पट्टावलीमें जो अंगविच्छेदका क्रम और उसकी कालगणना पाई जाती है वह अन्यत्रकी मान्यताके विरुद्ध जाती है। किंतु उससे अकस्मात् अंगलोपसंबन्धी कठिनाई कुछ कम हो जाती है और जो पांच आचार्योंका २२० वर्षका काल असंभव नहीं तो दुःशक्य जंचता है उसका समाधान हो जाता है। पर यदि यह ठीक हो तो कहना पड़ेगा कि श्रुत-परम्पराके संबन्धमें हरिवंशपुराणके कर्तासे लगाकर श्रुतावतारके कर्ता
मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज
इन्द्रनन्दितकके सब आचार्योंने धोखा खाया है और उन्हे वे प्रमाण उपलब्ध नहीं थे जो इस पट्टावलीके कर्ताको थे। समयाभावके कारण इस समय हम इसकी और अधिक जांच पड़ताल नहीं कर सकते। किंतु साधक बाधक प्रमाणोंका संग्रह करके इसका निर्णय किये जानेकी आवश्यकता है।

यदि यह पट्टावली ठीक प्रमाणित हो जाय तो हमारे आचार्योंका समय वीर निर्वाणके पश्चात् ६२ + १०० + १८३ + १२३ + ९७ + २८ + २१ = ६१४ और ६८३ वर्षके भीतर पड़ता है।

धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलिके समय पर प्रकाश डालनेवाला एक और प्रमाण है। प्रस्तुत ग्रन्थकी उत्थानिकामें कहा गया है कि जब धरसेनाचार्य के पत्रके उत्तरमें आन्ध्रदेशसे दो

धरसेनकृत जोणिपाहुड

सांधु, जो पीछे पुष्पदन्त और भूतबलि कहलाये, उनके पास पहुंचे तब धरसेनाचार्यने उनकी परीक्षाके लिये उन्हे कुछ मन्त्रविद्याएं सिद्ध करनेके लिये दी। इससे धरसेनाचार्यकी मन्त्रविद्यामें कुशलता सिद्ध होती है। अनेकान्त भाग २ के गत १ जुलाई के अंक ९ में श्रीयुत् पं. जुगलकिशोरजी मुख्तारका लिखा हुआ योनिप्राभृत ग्रन्थका परिचय प्रकाशित हुआ है, जिससे ज्ञात होता है कि यह ग्रन्थ ८०० श्लोक प्रमाण प्राकृत गाथाओंमें है, उसका विषय मन्त्र-तन्त्रवाद है, तथा वह १५५६ वि. संवत्में लिखी गई बृहट्टिप्पणिका नामकी ग्रन्थ-सूचीके आधारपर से धरसेनद्वारा वीर निर्वाणसे ६०० वर्ष पश्चात् बना हुआ माना गया है[1]। इस ग्रंथकी एक प्रति भांडारकर इंस्टीट्यूट पूनामें है, जिसे देखकर पं. बेचरदासजीने जो नोट्स लिये थे उन्हीं परसे मुख्तारजीने उक्त परिचय लिखा है। इस प्रतिमें ग्रंथका नाम तो योनिप्राभृत ही है किंतु उसके कर्ताका नाम पण्हसवण मुनि पाया जाता है। इन महामुनिने उसे कूष्माण्डिनी महादेवीसे प्राप्त किया था और अपने शिष्य पुष्पदंत और भूतबलिके लिये लिखा था। इन दो नामोंके कथनसे इस ग्रंथका धरसेनकृत होना बहुत संभव जंचता है। प्रज्ञाश्रमणत्व एक ऋद्धिका नाम है और उसके धारण करनेवाले मुनि

---

१ योनिप्राभृतं वीरात् ६०० धारसेनम्। (बृहट्टिपणिका जै. सा. सं. १, २ (परिशिष्ट)

प्रज्ञाश्रमण कहलाते थे'[1] जोणिपाहुडकी इस प्रतिका लेखन-काल संवत् १५८२ है, अर्थात् वह चारसौ वर्षसे भी अधिक प्राचीन है। 'जोणिपाहुड' नामक ग्रंथका उल्लेख धवलामें भी आया है। जो इस प्रकार है---

'जोणिपाहुडे भणिद-मंत-तंत-सत्तीओ पोग्गलाणुभागो त्ति घेत्तव्वो'

(धवला. अ. प्रति. पत्र ११९८)

इससे स्पष्ट है कि योनिप्राभृत नामका मंत्रशास्त्रसंबन्धी कोई अत्यन्त प्राचीन ग्रंथ अवश्य है। उपर्युक्त अवस्थामें आचार्य धरसेननिर्मित योनिप्राभृत ग्रंथके होनेमें अविश्वासका कोई कारण नहीं है। तथा बृहट्टिप्पणिकामें जो उसका रचनाकाल वीर निर्वाणसे ६०० वर्ष पश्चात् सूचित किया है वह भी गलत सिद्ध नही होता। अभी अभी अनेकान्त (वर्ष २, किरण १२, पृ. ६६६) में श्रीमान् पं. नाथूरामजी प्रेमीका 'योनिप्राभृत और प्रयोगमाला' शीर्षक लेख छपा है, जिसमें उन्होंने प्रमाण देकर बतलाया है कि भंडारकर इंस्टीट्यूटवाला 'योनिप्राभृत' और उसीके साथ गुंथा हुआ 'जगत्सुंदरी योगमाला' संभवतः हरिषेणकृत है, किंतु हरिषेणके समयमें एक और प्राचीन् योनिप्राभृत विद्यमान था। बृहट्टिप्पणिकाकी प्रामाणिकताके विषयमें प्रेमजीने कहा है कि 'वह सूची एक श्वेतांबर विद्वान्ने प्रत्येक ग्रंथ देखकर तैयार की थी और अभी तक वह बहुत ही प्रामाणिक समझी जाती है'। नन्दिसंघको प्राकृत पट्टावलीके अनुसार धरसेनका काल वीर निर्वाणसे ६२ + १०० + १८३ + १२३ + ९७ + २८ + २१ = ६१४ वर्ष पश्चात् पडता है, अतः अपने पट्टकालसे १४ वर्ष पूर्व उन्होंने यह ग्रंथ रचा होगा। इस समीकरणसे प्राकृत पट्टावली और बृहट्टिप्पणिकाके संकेत, इन दोनोंकी प्रामाणिकता सिद्ध होती है, क्योंकि, ये दोनों एक दूसरेसे स्वतंत्र आधारपर लिखे हुए प्रतीत होते हैं।

१ धवलामें पण्हसमणोंको नमस्कार किया है और अन्य ऋद्धियोंके साथ प्रज्ञाश्रमणत्व ऋद्धिका विवरण दिया है। यथा—

णमो पण्हसमणाणं ॥ १८ ॥ औत्पत्तिकी वैनयिकी कर्मजा पारिणामिकी चेति चतुर्विधा प्रज्ञा। एदेसु पण्हसमणेसु केसिं गहणं। चदुण्ह पि गहणं। प्रज्ञा एव श्रवण येषां ते प्रज्ञाश्रवणाः

धवला. अ. प्रति ६८४

जयधवलाकी प्रशस्तिमें कहा गया है कि वीरसेनके ज्ञानके प्रकाशको देखकर विद्वान् उन्हें श्रुतकेवली और प्रज्ञाश्रमण कहते थे। यथा—

यमाहुः प्रस्फुरद्बोधदीधितिप्रसरोदयम्।
श्रुतकेवलिनः प्राज्ञाः प्रज्ञाश्रवणसत्तमम् ॥ २२ ॥

तिलोयपण्णत्ति गाथा ७० में कहा गया है कि प्रज्ञाश्रमणोंमें अन्तिम मुनि 'वज्रयश' नामके हुए। यथा—
पण्हसमणेसु चरिमो वइरजसो णाम। (अनेकान्त, २, १२ पृ. ६६८)

षट्खण्डागमके रचनाकाल पर कुछ प्रकाश कुन्दकुन्दाचार्यके संवन्धसे भी पडता है। इन्द्रनन्दिने श्रुतावतारमें कहा है कि जब कर्मप्राभृत और कषायप्राभृत दोनों पुस्तकारूढ़ हो चुके

कुन्दकुन्दकृत परिकर्म

तब कोण्डकुन्दपुरमें पद्मनन्दि मुनिने, जिन्हें सिद्धान्तका ज्ञान गुरु-परिपाटीसे मिला था, उन छह खण्डोंमेंसे प्रथम तीन खण्डोंपर परिकर्म नामक बारह हजार श्लोक प्रमाण टीका-ग्रन्थ रचा। पद्मनन्दि कुन्दकुन्दाचार्यका भी नाम था और श्रुतावतारमें कोण्डकुन्दपुरका उल्लेख आनेसे इसमें संदेह नहीं रहता कि यहां उन्हींसे अभिप्राय है। यद्यपि प्रो. उपाध्ये कुन्दकुन्दके ऐसे किसी ग्रन्थकी रचनाकी बातको प्रामाणिक नहीं स्वीकार करते, क्योंकि, उन्हे धवला और जयधवलामें इसका कोई संकेत नहीं मिला। किंतु कुन्दकुन्दके सिद्धान्त ग्रंथोंपर टीका बनानेकी बात सर्वथा निर्मूल नहीं कही जा सकती, क्योंकि जैसा कि हम अन्यत्र बता रहे हैं, प[illegible] मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज अनेक जगह पाये जाते हैं।

प्रो. उपाध्येने कुन्दकुन्दके लिये ईस्वीका प्रारम्भ काल, लगभग प्रथम दो शताब्दियोंके भीतरका समय, अनुमान किया है उससे भी षट्खण्डागमकी रचनाका समय उपरोक्त ठीक जंचता है।

धरसेनाचार्य गिरिनगरकी चन्द्रगुफामें रहते थे। यह स्थान काठियावाडके अन्तर्गत है। यह बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथकी निर्वाणभूमि होनेसे जैनियोंके लिये बहुत प्राचीन कालसे अबतक

भौगोलिक उल्लेख

महत्वपूर्ण है। मौर्य राजाओंके समयसे लगाकर गुप्त काल अर्थात ४थी, ५वी शताब्दितक इसका भारी महत्व रहा जैसा कि यहांपर एक ही चट्टान पर पाये गये अशोक मौर्य, रुद्रदामन और गुप्तवंशी स्कन्धगुप्तके समयके लेखोंसे पाया जाता है।

धरसेनाचार्यने ' महिमा ' में सम्मिलित संघको पत्र भेजा था जिससे महिमा किसी नगर या स्थान का नाम ज्ञात होता है, जो कि आन्ध्र देशके अन्तर्गत वेणाक नदीके तीरपर था। वेण्या नामकी एक नदी बम्बई प्रान्तके सतारा जिलेमें है और उसी जिलेमें महिमानगढ़ नामका एक गांव भी है, जो हमारी महिमा नगरी हो सकता है। इससे अनुमानतः यहीं सतारा जिलेमें वह जैन मुनियोंका सम्मेलन हुआ था। यदि यह अनुमान ठीक हो तो मानना पडेगा कि सतारा जिलेका भाग उस समय आन्ध्र देशके अन्तंगत था। आन्ध्रोंका राज्य पुराणों और शिलादि लेखोंपरसे ईस्वी पूर्व २३२ से ई. सन् २२५ तक पाया जाता है। इसके पश्चात् कमसे कम इस भागपर आन्ध्रोंका अधिकार नहीं रहा। अतएव इस देशको आन्ध्र विषयान्तर्गत लेना इसी समयके भीतर माना जा सकता है। गिरिनगरसे लौटते हुए पुष्पदंत और भूतबलिने जिस अंकुलेश्वर स्थानमें वर्षाकाल व्यतीत किया था वह निस्सन्देह गुजरातमें भडोंच जिलेका प्रसिद्ध नगर अंकलेश्वर ही होना चाहिये। वहांसे पुष्पदन्त जिस बनवास देशको गये वह उत्तर कर्नाटकका ही प्राचीन नाम है जो तुंगभद्रा और वरदा नदियोंके बीच बसा हुआ है। प्राचीन कालमें यहां कदम्ब वंशका राज्य था। जहां इसकी राजधानी ' वनवासि ' थी वहां अब भी उस

नामका एक ग्राम विद्यमान है। तथा भूतबलि जिस द्रमिल देशको गये वह दक्षिण भारतका वह भाग है जो मद्राससे सेरिंगपट्टम और कामोरिन तक फैला हुआ है और जिसकी प्राचीन राजधानी कांचीपुरी थी। प्रस्तुत ग्रंथकी रचना-संबन्धी इन भौगोलिक सीमाओंसे स्पष्ट जाना जाता है कि उस प्राचीन कालमें काठियावाड़से लगाकर देशके दक्षिणतम भाग तक जैन मुनियोंका प्रचुरतासे विहार होता था और उनके बीच पारस्परिक धार्मिक और साहित्यिक आदान-प्रदान सुचारुरूपसे चलता था। यह परिस्थिति विक्रमकी दूसरी शताब्दितक के समयका संकेत करती है।

मार्गदर्शक : आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

६. वीर-निर्वाण-काल

पूर्वोक्त प्रकारसे षट्खंडागमकी रचनाका समय वीरनिर्वाणके पश्चात् सातवीं शताब्दिके अन्तिम या आठवीं शताब्दिके प्रारम्भिक भागमें पड़ता है। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि महावीर भगवानका निर्वाणकाल क्या है।

जैनियोंमें एक वीरनिर्वाण संवत् प्रचलित है जिसका इस समय २४६५ वां वर्ष चालू है। इसे लिखते समय मेरे सन्मुख 'जैनमित्र' का ता. १४ सितम्बर १९३९ का अंक प्रस्तुत है जिसपर वीर सं. २४६५ भादों सुदी १, दिया हुआ है। यह संवत् वीरनिर्वाण दिवस अर्थात् पूर्णिमान्त मास-गणनाके अनुसार कार्तिक कृष्ण पक्ष १४ के पश्चात् बदलता है। अतः आगामी नवम्बर ११ सन् १९३९ से निर्वाण संवत् २४६६ प्रारम्भ हो जायगा। इस समय विक्रम संवत् १९९६ प्रचलित है और यह चैत्र शुक्ल पक्षसे प्रारम्भ होता है। इसके अनुसार निर्वाण संवत् और विक्रम संवत् में २४६६–१९९६ = ४७० वर्ष का अन्तर है। दोनों संवतोंके प्रारम्भ मासमें भेद होनेसे कुछ मासोंमें यह अन्तर ४६९ वर्ष आता है जैसा कि वर्तमान में। अतः इस मान्यताके अनुसार महावीरका निर्वाण विक्रम संवत्से कुछ मास कम ४७० वर्ष पूर्व हुआ।

किन्तु विक्रम संवत्के प्रारम्भके सम्बन्धमें प्राचीन कालसे बहुत मतभेद चला आ रहा है जिसके कारण वीरनिर्वाण कालके सम्बन्धमें भी कुछ गड़बड़ी और मतभेद उत्पन्न हो गया है। उदाहरणार्थ, जो नन्दिसंघ की प्राकृत पट्टावली ऊपर उद्धृत की गई है उसमें वीर-निर्वाणसे ४७० वर्ष पश्चात् विक्रमका जन्म हुआ, ऐसा कहा गया है, और चूंकि ४७० वर्षका ही अन्तर प्रचलित निर्वाण संवत् और विक्रम संवतमें पया जाता है, इससे प्रतीत होता है कि विक्रम संवत् विक्रमके जन्मसे ही प्रारम्भ हो गया था। किन्तु मेरुतुंगकृत स्थविरावली[1] तपागच्छ

---

१. विक्कम-रज्जारंभा पुरओ सिरि-वीर-णिव्वु भणिया। सुन्न-मुणि-वेय-जुत्तो विक्कम-कालाउ जिणकालो॥ (मेरुतुंग-स्थविरावली)

पट्टावली,[1] जिनप्रभसूरिकृत पावापुरीकल्प,[2] प्रभाचन्द्रसूरिकृत प्रभावकचरित[3] आदि ग्रंथोंमें उल्लेख हैं कि विक्रमसवत् का प्रारम्भ विक्रम राजाके राज्यकालसे या उससे भी कुछ पश्चात् प्रारम्भ हुआ।

श्रीयुत बैरिस्टर काशीप्रसादजी जायसवालने इसी मतको मान देकर निश्चित किया कि चूंकि जैन ग्रंथोंमें ४७० वर्ष पश्चात् विक्रमका जन्म हुआ कहा गया है और चूंकि विक्रमका राज्यारंभ उनकी १८ वर्षकी आयुमें होना पाया जाता है, अतः वीर निर्वाणका ठीक समय जाननेके लिये ४७० वर्षमें १८ वर्ष और जोड़ना चाहिये अर्थात् प्रचलित विक्रमसंवतसे ४८८ वर्षपूर्व महावीरका निर्वाण हुआ[4]।

एक और तीसरा मत हेमचंद्राचार्य के उल्लेखपरसे प्रारम्भ हो गया है। हेमचन्द्रने अपने परिशिष्टपर्वमें कहा है कि महावीरकी मुक्ति से १५५ वर्ष जाने पर चन्द्रगुप्त राजा हुआ[5]। यहां उनका तात्पर्य स्पष्टतः चन्द्रगुप्त मौर्यसे है। और चूंकि चन्द्रगुप्तसे लगाकर विक्रम-तक का काल सर्वत्र २५५ वर्ष पाया जाता है, अतः वीरनिर्वाणका समय विक्रमसे २५५ + १५५ = ४१० वर्षपूर्व ठहरा। इस मतके अनुसार ४७० मेंसे ६० वर्ष घटा देनेसे ठीक विक्रमपूर्व वीरनिर्वाणकाल ठहरता है। पाश्चिमिक विद्वानों, जैसे डॉ. याकोबी[6] डॉ. चार्पेंटियर[7] आदिने इसी मत का प्रतिपादन किया है और इधर मुनि कल्याणविजयजीने[8] भी इसी मतकी पुष्टि की है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

किन्तु दिगम्बरसम्प्रदायमें जो उल्लेख मिलते हैं वे इस उलझनको बहुत कुछ सुलझा देते हैं। इन उल्लेखोंके अनुसार शकसंवत्की उत्पत्ति वीरनिर्वाणसे कुछ मास अधिक ६०५ वर्ष

---

१. तद्राज्यं तु श्रीवीरात् सप्तति-वर्ष-शत-चतुष्टये ४७० संजातम्। (तपागच्छपट्टावली)

२. मह मुक्ख-गमणाओ पालय-नंद-चंदगुत्ताई-राईसु वोलीणेसु चउसयसत्तरेहिं वासेहि विक्कमाइच्चो राया होही। (जिनप्रभसूरि-पावापुरीकल्प)

३. इतः श्रीविक्रमादित्यः शास्त्यवन्तीं नराधिपः। अनृणां पृथिवीं कुर्वन् प्रवर्तयति वत्सरम्॥
(प्रभाचन्द्रसूरि-प्रभावकचरित॰)

४. Bihar and Orissa Research Society Journal, 1915.

५. एवं च महावीरमुक्तेर्वर्षशते गते। पंचपंचाशदधिके चन्द्रगुप्तोऽभवन्नृपः॥ (परिशिष्ट-पर्व)

६. Sacred books of the East XXII.

७. Indian Antiquary XLIII.

८. 'वीरनिर्वाण संवत् और जैनकालगणना,' संवत् १९८७.

पश्चात् हुई[1] तथा जो विक्रमसंवत् प्रचलित है और जिसका अन्तर वीरनिर्वाण कालसे ४७० वर्ष पड़ता है उसका प्रारम्भ विक्रमके जन्म या राज्यकालसे नहीं किन्तु विक्रमकी मृत्युसे हुआ था[2]। ये उल्लेख उपर्युक्त उल्लेखोंकी अपेक्षा अधिक प्राचीन भी हैं। उससे पूर्व प्रचलित वीर और बुद्धके निर्वाणसंवत् मृत्युकालसेही सम्बद्ध पाये जाते हैं।

इन उल्लेखोंसे पूर्वोक्त उलझन इस प्रकार सुलझती है। प्रथम शकसंवत् को लीजिये। यह वीरनिर्वाणसे ६०५ वर्ष पश्चात् चला। प्रचलित विक्रम संवत् और शक संवत् में १३५ वर्ष का अन्तर पाया जाता है। अतः इस मतके अनुसार विक्रमसंवत् का प्रारम्भ वीरनिर्वाणसे ६०५ – १३५ = ४७० वर्ष पश्चात् हुआ। अब विक्रमसंवत् पर विचार कीजिये जो विक्रमकी मृत्युसे प्रारम्भ हुआ। मेरुतुंगाचार्यने विक्रमका राज्यकाल ६० वर्ष कहा है[3], अतएव ४७० वर्षमेंसे ये ६० वर्ष निकाल देनेसे विक्रम के राज्यका प्रारम्भ वीरनिर्वाणसे ४१० वर्ष पश्चात् सिद्ध होता है। इस प्रकार हेमचन्द्रके उल्लेखानुसार जो वीरनिर्वाणसे ४१० वर्ष पश्चात् विक्रमका राज्य प्रारम्भ माना गया है वह ठीक ही है, किन्तु उसे विक्रमसंवत्का प्रारम्भ नहीं समझना चाहिये। जिन मतोंमें विक्रमके राज्यसे पूर्व या जन्मसे पूर्व ४७० वर्ष बतलाये गये हैं उनमें विक्रमके जन्म, राज्यकाल व मृत्युके समयसे संवत्-प्रारंभके सम्बन्धमें लेखकोंकी भ्रान्ति ज्ञात

---

१. णिव्वाणे वीरजिणे छव्वास-सदेसु पंचवरिसेसु। पणमासेसु गदेसु संजादो सगणिओ अहवा॥
(तिलोयपण्णत्ति)

वर्षाणां षट्शतीं त्यक्त्वा पंचाग्रां मासपंचकम्। मुक्तिं गते महावीरे शकराजस्ततोऽभवत्॥
(जिनसेन-हरिवंशपुराण)

पणछस्सयवस्सं पणमासजुदं गमिय वीरणिव्वुइदो। सगराजो..........॥ ८५० ॥
(नेमिचन्द्र - त्रिलोकसार)

एसो वीरजिणिंद – णिव्वाण – गद – दिवसादो जाव सगकालस्स आदी होदी। तावदिय – कालो कुदो ६०५–५, एदम्मि काले सग-णरिंद-कालम्मि पक्खित्ते वड्ढमाणजिण-णिव्वुदि-कालागमणादो। वृत्तं च—
पंच य मासा पंच य वासा छच्चेव होंति वाससया। सगकालेण य सहिया थावेयव्वो तदो रासी॥

२. छत्तीसे वरिस-सए विक्कमरायस्स मरण-पत्तस्स। सोरट्ठे वलहीए उप्पण्णो सेवडो संघो॥११॥
पंच-सए छव्वीसे विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स। दक्खिण-महुरा-जादो दाविडसंघो महामोहो॥२८॥
सत्तसए तेवण्णे विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स। णंदियडे वरगामे कट्ठो संघो मुणेयव्वो॥ ३८॥
(देवसेन–दर्शनसार)

सषट्त्रिंशे शतेऽब्दानां मृते विक्रमराजनि। सौराष्ट्रे वल्लभीपुर्यामभूत्तत्कथ्यते मया॥
(वामदेव–भावसंग्रह)

समारूढे पूत-त्रिदशवसतिं विक्रमनृपे। सहस्रे वर्षाणां प्रभवति हि पंचाशदधिके।
समाप्तं पंचम्यामवति धरिणीं मुंजनृपतौ। सिते पक्षे पौषे बुधहितमिदं शास्त्रमनघम्॥
(अमितगति-सुभाषितरत्नसंदोह)

मृते विक्रम-भूपाले सप्तविंशति-संयुते। दशपंचशतेऽब्दानामतीते श्रृणुतापरम्॥ १५७॥
(रत्ननन्दि–भद्रबाहुचरित)

३ विक्रमस्य राज्यं ६० वर्षाणि। (मेरुतुंग-विचारश्रेणी, पृष्ठ ३, जै. सा. संशोधक २)

होती है। भ्रान्तिका एक दूसरा भी कारण हुआ है। हेमचन्द्रने वीरनिर्वाणसे नन्द राजातक ६० वर्षका अन्तर बतलाया है और चन्द्रगुप्त मौर्य तक १५५ वर्षका। इस प्रकार नन्दोंका राज्यकाल ९५ वर्ष पड़ता है। किंतु अन्य लेखकोंने चन्द्रगुप्तके राज्यकाल तकके १५५ वर्षोंको नन्दवंशका ही काल मान लिया है और उससे पूर्व ६० वर्षोंको नन्दकाल तक भी कायम रखा हैं। इस प्रकार जो ६० वर्ष बढ़ गये उसे उन्होंने अन्तमें विक्रमकालमें घटाकर जन्म या राज्य-कालसेही संवत्का प्रारम्भ मान लिया और इस प्रकार ४७० वर्षकी संख्या कायम रखी। इस मतका प्रतिपादन पं. जुगलकिशोरजी मुख्तारने किया है[1]।

इस मतका बुद्धनिर्वाण व आचार्य-परम्पराकी गणना आदिसे कैसा सम्बन्ध बैठता है, यह पुनः विवादास्पद विषय है जिसका स्वतंत्रतासे विचार करना आवश्यक है। यहां पर तो प्रस्तुत प्रमाणों पर से यह मान लेनेमें आपत्ति नहीं कि वीर-निर्वाणसे ४७० वर्ष पश्चात् विक्रमकी मृत्युके साथ प्रचलित विक्रम संवत् प्रारम्भ हुआ। अतः प्रस्तुत षट्खंडागमका रचना काल विक्रम संवत् ६१४–४७०=१४४, शकसंवत् ६१४–६०५=९ तथा ईस्वी सन् ६१४–५२७=८७ के पश्चात् पड़ता है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

७. षट्खण्डागमकी टीका धवलाके रचयिता

प्रस्तुत ग्रंथ धवलाके अन्तमें निम्न नौ गाथाएं पाई जाती हैं जो इसके रचयिताकी प्रशस्ति है—

धवलाकी अन्तिम प्रशस्ति

जस्स सेसाएण (पसाएण) मए सिद्धंतमिदं हि अहिलहुंदी (अहिलहुदं)।
महु सो **एलाइरियो** पसियउ वर**वीरसेण**स्स ॥ १ ॥
वंदामि उसहसेणं तिहुवण-जिय-बंधवं सिवं संतं।
णाण-किरणावहासिय-सयल-इयर-तम-पणासियं दिट्ठं ॥ २ ॥
अरहंतपदो (अरहंतो) भगवंतो सिद्धा सिद्धा पसिद्ध आइरिया।
साहू साहू य महं पसियंतु भडारया सव्वे ॥ ३ ॥
अज्ज**ज्जणंदि**सिस्सेणुज्जुव-कम्मस्स **चंदसेण**स्स।
तह णत्तुवेण **पंचत्थुहण्वं**भाणुणा मुणिणा ॥ ४ ॥
सिद्धंत-छंद-जोइस-वायरण-पमाण-सत्थ-णिवुणेण।
भट्टारएण टीका लिहिएसा **वीरसेणेण** ॥ ५ ॥
अट्ठतीसम्हि सासिय **विक्कम**रायम्हि एसु संगरमो। (?)
पासे **सुतेरसीए** भाव-विलग्गे **धवल-पक्खे** ॥ ६ ॥

---

1 अनेकान्त, १ पृ. १४.

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

जगतुंगदेवरज्जे रियम्हि कुंभम्हि राहुणा कोणे ।
सूरे तुलाए संते गुरुम्हि कुलविल्लए होंते ॥ ७ ॥
चावम्हि वरणिवुत्ते सिघे सुक्कम्मि णेमिचंदम्मि ।
कत्तियमासे एसा टीका हु समाणिआ धवला ॥ ८ ॥
वोद्दणराय-णरिंदे णरिंद-चूडामणिम्हि भुंजंते ।
सिद्धंतगंथमत्थिय गुरुप्पसाएण विगत्ता सा ॥ ९ ॥

दुर्भाग्यतः इस प्रशस्तिका पाठ अनेक जगह अशुद्ध है जिसे उपलब्ध अनेक प्रतियोंके मिलानसे भी अभीतक हम पूरी तरह शुद्ध नहीं कर सके। तो भी इस प्रशस्तिसे टीकाकारके विषयमें हमें बहुतसी ज्ञातव्य बातें विदित हो जाती हैं। पहली गाथासे स्पष्ट है कि इस टीकाके रचयिताका नाम **वीरसेन** है और उनके गुरुका नाम **एलाचार्य।** फिर चौथी गाथामें वीरसेनके गुरुका नाम **आर्यनन्दि** और दादा गुरुका नाम **चन्द्रसेन** कहा गया है। संभवतः एलाचार्य उनके विद्यागुरु और आर्यनन्दि दीक्षागुरु थे। इसी गाथामें उनकी शाखाका नाम भी **पंचस्तूपान्वय** दिया है। पाँचवी गाथामें कहा गया है कि इस टीकाके कर्ता वीरसेन सिद्धांत, छंद, ज्योतिष, व्याकरण और प्रमाण अर्थात् न्याय, इन शास्त्रोंमें निपुण थे और भट्टारकपदसे विभूषित थे। आगेकी तीन अर्थात् ६ से ८ वी तककी गाथाओंमें इस टीकाका नाम '**धवला**' दिया गया है और उसके समाप्त होनेका समय वर्ष, मास, पक्ष, तिथि, नक्षत्र व अन्य ज्योतिषसंबन्धी योगोंके सहित दिया है और **जगतुंगदेव** के राज्यका भी उल्लेख किया है। अन्तिम अर्थात् ९ वी गाथामें पुनः राजाका नाम दिया है जो प्रतियोंमें '**वोद्दणराय**' पढ़ा जाता है। वे नरेन्द्रचूडामणि थे। उन्हींके राज्यमें सिद्धान्तग्रन्थके ऊपर गुरुके प्रसादसे लेखकने इस टीकाकी रचना की।

टीकाकार वीरसेनाचार्य

द्वितीय सिद्धान्त ग्रन्थ कषायप्राभृतकी टीका '**जयधवला**' का भी एक भाग इन्हीं **वीरसेनाचार्यका** लिखा हुआ है। शेष भाग उनके शिष्य जिनसेनने पूरा किया था। उसकी **प्रशस्तिमें** भी वीरसेनके संबन्धमें प्रायः ये ही बातें कही गई हैं। चूंकि वह प्रशस्ति[1] उनके

---

१ भूयादावीरसेनस्य वीरसेनस्य शासनम् । शासनं वीरसेनस्य वीरसेन-कुशेशयम् ॥ १७ ॥
आसीदासीददासन्नभव्यसत्त्वकुमुद्वतीम् । मुद्वतीं कर्तुमीशो यः शशांक इव पुष्कलः ॥ १८ ॥
श्रीवीरसेन इत्यात्तभट्टारकपृथुप्रथः । पारदृश्वाधिविश्वानां साक्षादिव स केवली ॥ १९ ॥
प्रीणितप्राणिसंपत्तिराक्रांताशेषगोचरा । भारती भारतीवाज्ञा षट्खण्डे यस्य नास्खलत् ॥ २० ॥
यस्य नैसर्गिकीं प्रज्ञां दृष्ट्वा सर्वार्थगामिनीम् । जाताः सर्वज्ञसद्भावे निरारेका मनीषिणः ॥ २१ ॥
यं प्राहुः प्रस्फुरद्बोधदीधितिप्रसरोदयम् । श्रुतकेवलिनं प्राज्ञाः प्रज्ञाश्रमणसत्तमम् ॥ २२ ॥
प्रसिद्ध-सिद्धसिद्धान्तवार्धिवार्धौतशुद्धधीः । सार्द्धं प्रत्येकबुद्धैर्यः स्पर्धते धीद्धबुद्धिभिः ॥ २३ ॥
पुस्तकानां चिरत्नानां गुरुत्वमिह कुर्वता । येनातिशयिताः पूर्वे सर्वे पुस्तकशिष्यकाः ॥ २४ ॥
यस्तपोदीप्तकिरणैर्भव्यांभोजानि बोधयन् । व्यद्योतिष्ट मुनीनेनः पंचस्तूपान्वयांबरे ॥ २५ ॥
प्रशिष्यश्चन्द्रसेनस्य यः शिष्योऽप्यार्यनन्दिनाम् । कुलं गणं च सन्तानं स्वगुणैरुदजिज्वलत् ॥ २६ ॥
तस्य शिष्योऽभवच्छ्रीमान् जिनसेनसमिद्धधीः । (जयधवला-प्रशस्ति)

शिष्यद्वारा लिखी गई है अतएव उसमें उनकी कीर्ति विशेष रूपसे वर्णित पाई जाती है। वहां उन्हें साक्षात् केवलीके समान समस्त विश्वके पारदर्शी कहा है। उनकी वाणी षट्खण्ड आगममें अस्खलित रूपसे प्रवृत्त होती थी। उनकी सर्वार्थगामिनी नैसर्गिक प्रज्ञाको देखकर सर्वज्ञकी सत्तामें किसी मनीषीको शंका नहीं रही थी। विद्वान् लोक उनकी ज्ञानरूपी किरणोंके प्रसारको देखकर उन्हें प्रज्ञाश्रमणोंमें श्रेष्ठ आचार्य और श्रुतकेवली कहते थे। सिद्धान्तरूपी समुद्रके जलसे उनकी बुद्धि शुद्ध हुई थी जिससे वे तीव्रबुद्धि प्रत्येकबुद्धोंसे भी स्पर्धा करते थे। उनके विषयमें एक मार्मिक बात यह कही गई है कि उन्होंने चिरंतन कालकी पुस्तकों (अर्थात पुस्तकारूढ़ सिद्धांतों) की खूब पुष्टि की और इस कार्यमें वे अपनेसे पूर्वके समस्त पुस्तक-पाठियोंसे बढ़ गये। इसमें सन्देह नहीं कि वीरसेनकी इस टीकाने इन आगम-सूत्रोंको चमका दिया और अपनेसे पूर्वकी अनेक टीकाओंको अस्तमित कर दिया।

जिनसेनने अपने आदिपुराणमें भी गुरु वीरसेनकी स्तुति की है और उनकी भट्टारक पदवीका उल्लेख किया है। उन्हे वादि-वृन्दारक मुनि कहा है, उनकी लोकविज्ञता, कवित्वशक्ति और वाचस्पतिके समान वाग्मिताकी प्रशंसा की है, उन्हें सिद्धान्तोपनिबन्धकर्ता कहा है तथा उनकी 'धवला' भारतीको भुवनव्यापिनी कहा है[1]।

इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतारमें वीरसेनद्वारा धवला और जयधवला टीका लिखे जानेका इस प्रकार वृत्तान्त दिया है। बप्पदेव गुरुद्वारा सिद्धान्त ग्रंथोंकी टीका लिखे जानेके कितने ही काल पश्चात् सिद्धान्तोंके तत्वज्ञ श्रीमान् एलाचार्य हुए जो चित्रकूटपुरमें निवास करते थे। उनके पास वीरसेन गुरुने समस्त सिद्धान्तका अध्ययन किया और ऊपरके निबन्धनादि आठ अधिकार लिखे। फिर गुरुकी अनुज्ञा पाकर वे वाटग्राममें आये और वहांके आनतेन्द्रद्वारा बनवाये हुए जिनालयमें ठहरे। वहां उन्हें व्याख्याप्रज्ञप्ति (बप्पदेव गुरुकी बनाई हुई टीका) प्राप्त हो गई। फिर उन्होंने ऊपरके बन्धनादि अठारह अधिकार पूरे करके सत्कर्म नामका छटवां खण्ड संक्षेपसे तैयार किया और इस प्रकार छह खण्डोंकी ७२ हजार श्लोक प्रमाण प्राकृत और संस्कृत मिश्रित धवला टीका लिखी। तत्पश्चात् कषायप्राभृतकी चार विभक्तियोंकी २० हजार श्लोक प्रमाण टीका लिखनेके पश्चात् ही वे स्वर्गवासी हो गये। तब उनके शिष्य जयसेन (जिनसेन) गुरुने ४० हजार श्लोक प्रमाण टीका और लिखकर उसे पूरा किया। इस प्रकार जयधवला ६० हजार श्लोक-प्रमाण तैयार हुई[2]।

---

१ श्री वीरसेन इत्याप्त-भट्टारकपृथुप्रथः। स नः पुनातु पूतात्मा वादिवृन्दारको मुनिः ॥ ५५ ॥
लोकवित्वं कवित्वं च स्थितं भट्टारके द्वयम्। वाग्मिता वाग्मिनो यस्य वाचा वाचस्पतेरपि॥५६॥
सिद्धान्तोपनिबन्धानां विधातुर्मद्गुरोश्चिरम्। मन्मनःसरसि स्थेयान्मृदुपादकुशेशयम् ॥ ५७ ॥
धवलां भारतीं तस्य कीर्ति च शुचि-निर्मलाम्। धवलीकृतनिःशेषभुवनां तां नमाम्यहम् ॥ ५८ ॥
आदिपुराण-उत्थानिका.

२ काले गते कियत्यपि ततः पुनश्चित्रकूटपुरवासी। श्रीमानेलाचार्यो बभूव सिद्धान्ततत्त्वज्ञः॥१७७॥
तस्य समीपे सकलं सिद्धान्तमधीत्य वीरसेनगुरुः। उपरितमनिबन्धनाद्यधिकारानष्ट च लिलेख॥१७८॥
आगत्य चित्रकूटात्ततः स भगवान्गुरोरनुज्ञानात्। वाटग्रामे चात्रानतेन्द्रकृतजिनगृहे स्थित्वा॥१७९॥

वीरसेन स्वामीकी अन्य कोई रचना हमें प्राप्त नहीं हुई और यह स्वाभाविक ही है, क्योंकि उनका समस्त सज्ञान अवस्थाका जीवन निश्चयतः इन सिद्धान्त ग्रंथोंके अध्ययन, संकलन और टीका-लेखनमें ही बीता होगा। उनके कृतज्ञ शिष्य जिनसेनाचार्यने उन्हें जिन विशेषणों और पदवियोंसे अलंकृत किया है उन सबके पोषक प्रमाण उनकी धवला और जयधवला टीकामें प्रचुरतासे पाये जाते हैं। उनकी सूक्ष्म मार्मिक बुद्धि, अपार पाण्डित्य, विशाल स्मृति और अनुपम व्यासंग उनकी रचनाके पृष्ठ पृष्ठ पर झलक रहे हैं। उनकी उपलभ्य रचना ७२ + २० = ९२ हजार श्लोक प्रमाण है। महाभारत शतसाहस्री अर्थात् एक लाख श्लोक-प्रमाण होनेसे संसारका सबसे बड़ा काव्य समझा जाता है। पर वह सब एक व्यक्तिकी रचना नहीं है। वीरसेनकी रचना मात्रामें शतसाहस्री महाभारतसे थोडी ही कम है, पर वह उन्हीं एक व्यक्तिके परिश्रमका फल है। धन्य है वीरसेन स्वामीकी अपार प्रज्ञा और अनुपम साहित्यिक परिश्रमको। उनके विषयमें भवभूति कविके वे शब्द याद आते हैं

उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्मा,
कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी।

वीरसेनाचार्यका रचनाकाल

वीरसेनाचार्यका समय निश्चित है। उनकी अपूर्णटीका जयधवलाको उनके शिष्य जिनसेनने शक सं. ७५९ की फाल्गुन शुक्ला दशमी तिथिको पूर्ण की थी और उस समय अमोघवर्षका राज्य था[1]। मान्यखेटके राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष प्रथमके उल्लेख उनके समयके ताम्रपटोंमें शक सं. ७३७ से लगाकर ७८८ तक अर्थात् उनके राज्यके ५२ वीं वर्ष तकके मिलते हैं[2]। अतः जयधवला टीका अमोघवर्षके राज्यके २३ वीं वर्ष में समाप्त हुई सिद्ध होती है। स्पष्टतः इससे कई वर्ष पूर्व धवला टीका समाप्त हो चुकी थी और वीरसेनाचार्य स्वर्गवासी हो चुके थे।

व्याख्याप्रज्ञप्तिमवाप्य पूर्वषट्खण्डतस्ततस्तस्मिन्। उपरितमबन्धनाद्यधिकारैरष्टादशविकल्पैः॥ १८०॥
सत्कर्मनामधेयं षष्ठं खण्डं विधाय संक्षिप्य। इति षण्णां खण्डानां ग्रंथसहस्रैर्द्विसप्तत्या॥ १८१॥
प्राकृत-संस्कृत-भाषा-मिश्रां टीकां विलिख्य धवलाख्याम्। जयधवलां च कषायप्राभृतके चतसृणां विभक्तीनाम्॥ १८२॥
विंशतिसहस्रसद्ग्रंथरचनया संयुतां विरच्य दिवम्। यातस्ततः पुनस्तच्छिष्यो जयसेन (जिनसेन !) गुरुनामा॥ १८३॥
तच्छेषं चत्वारिंशता सहस्रैः समापितवान्। जयधवलैवं षष्टिसहस्रग्रंथोऽभवट्टीका॥ १८४॥

१ इति श्रीवीरसेनीया टीका सूत्रार्थदर्शिनी। वाटग्रामपुरे श्रीमद्गूर्जरार्यानुपालिते॥ ६॥
फाल्गुने मासि पूर्वाह्णे दशम्यां शुक्लपक्षके। प्रवर्द्धमानपूजोरुनन्दीश्वरमहोत्सवे॥ ७॥
अमोघवर्षराजेन्द्रराज्यप्राज्यगुणोदया। निष्ठिता प्रचयं यायादाकल्पान्तमनल्पिका॥ ८॥
एकोनषष्टिसमधिकसप्तशताब्देषु शकनरेन्द्रस्य। समतीतेषु समाप्ता जयधवला प्राभृतव्याख्या॥ ९॥ —जयधवला प्रशस्ति

२. Altekar: The Rashtrakutas and their times, p. 71. Dr. Altekar, on page 87 of his book says 'His (Amoghavarsha's) latest known date is Phalguna S'uddha 10, S'aka 799 (i. e. March. 878 A. D.), when the Jayadhavala tika of Virasena was finished. This is a gross mistake. He has wrongly taken S'aka 759 to be saka 799.

धवला टीकाके अन्तकी जो प्रशस्ति स्वयं वीरसेनाचार्यकी लिखी हुई हम ऊपर उद्धृत कर आये हैं उसकी छटवीं गाथामें उस टीकाकी समाप्तिके सूचक कालका निर्देश है। किंतु दुर्भाग्यतः हमारी उपलब्ध प्रतियोंमें उसका पाठ बहुत भ्रष्ट है इससे वहां अंकित वर्षका ठीक निश्चय नहीं होता। किंतु उसमें जगतुंगदेवके राज्यका स्पष्ट उल्लेख है। राष्ट्रकूट नरेशोंमें जगतुंग उपाधि अनेक राजाओंकी पाई जाती है। इनमेंसे प्रथम जगतुंग गोविंद तृतीय थे जिनके ताम्रपट शक संवत् ७१६ से ७३५ तकके मिले हैं[1]। इन्हींके पुत्र अमोघवर्ष प्रथम थे जिनके राज्यमें जयधवला टीका जिनसेन द्वारा समाप्त हुई। अतएव यह स्पष्ट है कि धवलाकी मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज प्रशस्तिमें इन्हीं गोविन्दराज जगतुंगका उल्लेख होना चाहिये।

अब कुछ प्रशस्तिका उन शंकास्पद गाथाओंपर विचार कीजिये। गाथा नं. ६ में 'अट्ठतीसम्हि' और 'विक्कमरायम्हि' सुस्पष्ट हैं। शताब्दिकी सूचनाके अभावमें अडतीसवां वर्ष हम जगतुंगदेवके राज्यका ले सकते थे। किंतु न तो उसका विक्रमराजसे कुछ सबन्ध बैठता और न जगतुंगका राज्य ही ३८ वर्ष रहा। जैसा हम ऊपर बतला चुके हैं उसका राज्य केवल २० वर्ष के लगभग रहा था। अतएव इस ३८ वर्ष का संबन्ध विक्रमसेही होना चाहिये। गाथामें शतसूचक शब्द गड़बडीमें है। किंतु जान पड़ता है लेखकका तात्पर्य कुछ सौ ३८ वर्ष विक्रम संवत्‌के कहनेका है। किंतु विक्रम संवत्‌के अनुसार जगतुंगका राज्य ८५१ से ८७० के लगभग आता है। अतः उसके अनुसार ३८ के अंककी कुछ सार्थकता नहीं बैठती। यह भी कुछ साधारण नहीं जान पड़ता कि वीरसेनने यहां विक्रम संवत्‌का उल्लेख किया हो। उन्होंने जहां जहां वीर निर्वाणकी काल-गणना दी है वहां शक-कालका ही उल्लेख किया है। उनके शिष्य जिनसेनने जयधवलाकी समाप्तिका काल शकगणनानुसार ही सूचित किया है। दक्षिणके प्रायः समस्त जैन लेखकोंने शककालका ही उल्लेख किया है। ऐसी अवस्थामें आश्चर्य नही जो यहां भी लेखकका अभिप्राय शक कालसे हो। यदि हम उक्त संख्या ३८ के साथ सातसौ और मिला दें और ७३८ शक संवत्‌के लें तो यह काल जगतुंगके ज्ञात काल अर्थात् शक संवत् ७३५ के बहुत समीप आ जाता है।

अब प्रश्न यह है कि जब गाथामें विक्रमराजका स्पष्ट उल्लेख है तब हम उसे शक संवत् अनुमान कैसे कर सकते हैं? पर खोज करनेसे जान पड़ता है कि अनेक जैन लेखकोंने प्राचीन कालसे शक कालके साथ भी विक्रमका नाम जोड़ रक्खा है। अकलंकचरितमें अकलंकके बौद्धोंके साथ शास्त्रार्थका समय इस प्रकार बतलाया है।

विक्रमार्कशकाब्दीयशतसप्तप्रमाजुषि।
कालेऽकलङ्कयतिनो बौद्धैर्वादो महानभूत्॥

यद्यपि इस विषयमें मतभेद है कि यहां लेखकका अभिप्राय विक्रम संवत् से है या शकसे, किंतु यह तो स्पष्ट है कि विक्रम और शकका संबन्ध एक ही काल गणनासे जोड़ा गया

---

१. रेऊ भारतके प्राचीन राजवंश. ३. पृ. ३६, ६५-६७.

है[1]। यह भ्रमवश हो और चाहे किसी मान्यतानुसार। यह भी बात नहीं है कि अकेला ही इस प्रकारका उदाहरण हो। त्रिलोकसारकी गाथा नं. ८५० की टीका करते हुए टीकाकार श्री माधवचन्द्र त्रैविद्य लिखते हैं---

'श्रीवीरनाथनिवृत्तेः सकाशात् पंचोत्तरषट्शतवर्षाणि (६०५) पंचमासयुतानि गत्वा पश्चात् विक्रमांकशकराजो जायते। तत उपरि चतुर्णवत्युत्तरत्रिशत (३९४) वर्षाणि सप्तमासाधिकानि गत्वा पश्चात् कल्की जायते'।

यहां विक्रमांक शकराजका उल्लेख है और उसका तात्पर्य स्पष्टतः शकसंवत्के
मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज
संस्थापकसे है। उक्त अवतरणपर डॉ. पाठकने टिप्पणी की है कि यह उल्लेख त्रुटि-पूर्ण है। उन्होंने ऐसा समझकर यह कहा ज्ञात होता है कि उस शब्दका तात्पर्य विक्रम संवत्से ही हो सकता है। किंतु ऐसा नहीं है। शक संवत्की सूचनामें ही लेखकने विक्रमका नाम जोड़ा है, और उसे शकराजकी उपाधि कहा है जो सर्वथा संभव है। शक और विक्रमके संबन्धकी कालगणनाके विषयमें जैन लेखकोंमें कुछ भ्रम रहा है यह तो अवश्य है। त्रिलोकप्रज्ञप्तिमें जो शककी उत्पत्ति वीरनिर्वाणसे ४६१ वर्ष पश्चात् या विकल्पसे ६०५ वर्ष पश्चात् बतलाई गई है[2] उसमें यही भ्रम या मान्यता कार्यकारी है, क्योंकि, वीर नि. से ४६१ वां वर्ष विक्रमके राज्यमें पड़ता है और ६०५ वर्षसे शककाल प्रारंभ होता है। ऐसी अवस्थामें प्रस्तुत गाथामें यदि 'विक्कमरायम्हि' से शकसंवत्की सूचना ही हो तो हम कह सकते हैं कि उस गाथाके शुद्ध पाठमें धवलाके समाप्त होनेका समय शक संवत् ७३८ निर्दिष्ट रहा है।

इस निर्णयमें एक कठिनाई उपस्थित होती है। शक संवत् ७३८ में लिखे गये नवसारीके ताम्रपटमें जगतुंगके उत्तराधिकारी अमोघवर्षके राज्यका उल्लेख है। यही नहीं, किंतु शक संवत् ७८८ के सिरूरसे मिले हुए ताम्रपटमें राज्यके ५२ वें वर्षका उल्लेख है, जिससे ज्ञात होता है कि अमोघवर्षका राज्य ७३७ से प्रारंभ हो गया था। तब फिर शक ७३८ में जगतुंगका उल्लेख किस प्रकार किया जा सकता है? इस प्रश्नपर विचार करते हुए हमारी दृष्टि गाथा नं. ७ में 'जगतुंगदेवरज्जे' के अनन्तर आये हुए 'रियम्हि' शब्दपर जाती है जिसका अर्थ होता है 'ऋते' या 'रिक्ते'। संभवतः उसीसे कुछ पूर्व जगतुंगदेवका राज्य गत हुआ था और अमोघवर्ष सिंहासनारूढ़ हुए थे। इस कल्पनासे आगे गाथा नं. ९ में जो बोद्दणराय नरेन्द्रका उल्लेख है, उसकी उलझन भी सुलझ जाती है। बोद्दणराय संभवतः अमोघवर्षका ही उपनाम होगा। या वह वड्डिगकाही रूप हो और वड्डिग अमोघवर्षका उपनाम हो। अमोघवर्ष तृतीयका उपनाम वद्दिग या वड्डिगका तो उल्लेख मिलता ही है। यदि यह कल्पना ठीक हो तो वीरसेन

---

1 Inscriptions at Sravana Belgola, Intro. p. 84 and न्याय कु. चं. भूमिका पृ. १०३

२ वीरजिणं सिद्धिगदे चउ-सद-इगसट्ठि वास-परिमाणे। कालम्मि अदिक्कंते उप्पण्णो एत्थ सगराओ ॥८६॥

णिव्वाणे वीरजिणे छव्वास-सदेसु पंच-वरिसेसु। पण-मासेसु गदेसु संजादो सगणिओ अहवा ॥८९॥ तिलोयपण्णत्ति

स्वामीके इन उल्लेखोंका यह तात्पर्य निकलता है कि उन्होंने धवला टीका शक संवत् ७३८ में समाप्त की जब जगतुंगदेवका राज्य पूरा हो चुका था और बोद्दणराय (अमोघवर्ष) राजगद्दीपर बैठ चुके थे। '**जगतुंगदेवरज्जे**' और '**बोद्दणरायणरिंदे णरिंदचूडामणिम्हि भुंजंते**' पाठोंपर ध्यान देनेसे यह कल्पना बहुत कुछ पुष्ट हो जाती है।

अमोघवर्षके राज्यके प्रारंभिक इतिहासको देखनेसे जान पड़ता है कि संभवतः गोविन्दराजने अपने जीवनकालमें ही अपने अल्पवयस्क पुत्र अमोघवर्षको राजतिलक कर दिया था और उनके संरक्षक भी नियुक्त कर दिये थे, और आप राज्यभारसे मुक्त होकर, आश्चर्य नहीं, धर्मध्यान करने लगे हों। नवसारीके शक ७३८ के ताम्रपटोंमें अमोघवर्षके राज्यमें किसी प्रकारकी गड़बडीकी सूचना नहीं है, किंतु सूरतसे मिले हुए शक संवत ७४३ के ताम्रपटोंमें एक विप्लवके समनके पश्चात् अमोघवर्षके पुनः राज्यारोहणका उल्लेख है। इस विप्लवका वृत्तान्त बडौदासे मिले हुए शक संवत् ७५७ के ताम्रपटोंमेंभी पाया जाता है। अनुमान होता है कि गोविन्दराजके जीवनकालमें तो कुछ गड़बडी नहीं हुई किंतु उनकी मृत्युके पश्चात् राज्यसिंहासनके लिये विप्लव मचा जो शक संवत् ७४३ के पूर्व समन हो गया[१]। अतएव शक ७३८ में जगतुंग (गोविन्दराज) जीवित थे इस कारण उनका उल्लेख किया और उनके पुत्र सिंहासनारूढ़ हो चुके थे इससे उनका भी कथन किया, यह उचित जान पडता है।

यदि यह कालसंबन्धी निर्णय ठीक हो तो उस परसे वीरसेनस्वामीके कुल रचनाकाल व धवलाके प्रारंभकालका भी कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। धवला टीका ७३८ शकमें समाप्त हुई और जयधवला उसके पश्चात ७५९ शक में। तात्पर्य यह कि कोई २० वर्ष में जयधवलाके ६० हजार श्लोक रचे गये जिसकी औसत एक वर्षमें ३ हजार आती है। इस अनुमानसे धवलाके ७२ हजार श्लोक रचनेमें २४ वर्ष लगना चाहिये। अतः उसकी रचना ७३८ – २४ = ७१४ शकमें प्रारंभ हुई होगी, और चूंकि जयधवलाके २० हजार श्लोक रचे जानेके पश्चात् वीरसेन स्वामीकी मृत्यु हुई और उतने श्लोकोंकी रचनामें लगभग ७ वर्ष लगे होंगे, अतः वीरसेनस्वामीके स्वर्गवासका समय ७३८ + ७ = ७४५ शकके लगभग आता है। तथा उनका कुल रचना-काल शक ७१४ से ७४५ अर्थात् ३१ वर्ष पड़ता है[२]।

---

१ Altekar : The Rashtrakutas and their times p. 71 ft

२ आजसे कोई ३० वर्ष पूर्व विद्वद्वर पं. नाथूरामजी प्रेमीने अपनी विद्वद्रत्नमाला नामक लेखमालामें वीरसेनके शिष्य जिनसेन स्वामीका पूरा परिचय देते हुए बहुत सयुक्तिक रूपसे जिनसेनका जन्मकाल शक संवत् ६७५ अनुमान किया था और कहा था कि उनके गुरुका जन्म उनसे 'अधिक नहीं तो १० वर्ष पहले लगभग ६६५ शकमें हुआ होगा'। इससे वीरसेनस्वामीका जीवनकाल शक ६६५ से ७४५ तक अर्थात् ८० वर्ष पड़ता है। ठीक यही अनुमान अन्य प्रकारसे संख्या जोड़कर प्रेमीजीने किया था और लिखा था कि 'जिनसेन-स्वामीके गुरु वीरसेनस्वामीकी अवस्था भी ८० वर्षसे कम न हुई होगी ऐसा जान पड़ता है। विद्वद्रत्नमाला पृ. २५ आदि, व पृ. ३६ इन हमारे कविश्रेष्ठोंके पूर्ण परिचयके लिये पाठकोंको प्रेमीजीका वह ८९ पृष्ठोंका पूरा लेख पढ़ना चाहिये।

अब हम प्रशस्तिमें दी हुई ग्रह-स्थितिपर भी विचार कर सकते हैं। सूर्यकी स्थिति तुला राशिमें बताई गई है सो ठीक ही है, क्योंकि, कार्तिक मासमें सूर्य तुलामें ही रहता है। चन्द्रकी स्थितिका द्योतक पद अशुद्ध है। शुक्लपक्ष होनेसे चन्द्र सूर्यसे सात राशिके भीतर ही होना चाहिये और कार्तिक मासकी त्रयोदशीको चन्द्र मीन या मेष राशिमें ही हो सकता है। अतएव **'णेमिचंदम्मि'** की जगह शुद्ध पाठ **'मीणे चंदम्मि'** प्रतीत होता है जिससे चन्द्रकी स्थिति मीन राशिमें पड़ती है। लिपिकारके प्रमादसे लेखनमें वर्णव्यत्यय हो गया जान पड़ता है। शुक्रकी स्थिति सिंह राशिमें बताई है जो तुलाके सूर्यके साथ ठीक बैठती है।

संवत्सरके निर्णयमें नौ ग्रहोंमेंसे केवल तीन ही ग्रह अर्थात् गुरु, राहु और शनिकी स्थिति सहायक हो सकती है। इनमेंसे शनिका नाम तो प्रशस्तिमें कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता। राहु और गुरुके नामोल्लेख स्पष्ट हैं किन्तु पाठ-भ्रमके कारण उनकी स्थितिका निर्भ्रान्त ज्ञान
मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज
नहीं होता। अतएव इन ग्रहोंकी वर्तमान स्थितिपरसे प्रशस्तिके उल्लेखोंका निर्णय करना आवश्यक प्रतीत हुआ। आज इसका विवेचन करते समय शक १८६१, आश्विन शुक्ला ५, मंगलवार है, और इस समय गुरु मीनमें, राहु तुलामें तथा शनि मेषमें है। गुरुकी एक परिक्रमा बारह वर्षमें होती है, अतः शक ७३८ से १८६१ अर्थात् ११२३ वर्षमें उसकी ९३ परिक्रमाएं पूरी हुई और शेष सात वर्षमें सात राशियां आगे बढ़ी। इस प्रकार शक ७३८ में गुरुकी स्थिति कन्या या तुला राशिमें होना चाहिये। अब प्रशस्तिमें गुरुको हम सूर्यके साथ तुला राशिमें ले सकते हैं।

राहुकी परिक्रमा अठारह वर्षमें पूरी होती है। अतः गत ११२३ वर्षमें उसकी ६२ परिक्रमाएं पूरी हुई और शेष सात वर्षमें वह लगभग पांच राशि आगे बढ़ा। राहुकी गति सदैव वक्री होती है। तदनुसार शक ७३८ में राहुकी स्थिति तुलासे पांचवी राशि अर्थात् कुंभमें होना चाहिये। अतएव प्रशस्तिमें हम राहुका सम्बन्ध कुंभम्हि से लगा सकते हैं। राहु यहां तृतीयान्त पद क्यों है इसका समाधान आगे करेंगे।

शनिकी परिक्रमा तीस वर्षमें पूरी होती है। तदनुसार गत ११२३ वर्षमें उसकी ३७ परिक्रमाएं पूरी हुई और शेष १३ वर्षमें वह कोई पांच राशि आगे बढ़ा। अतः शक ७३८ में शनि धनु राशिमें होना चाहिये। जब धवलाकारने इतने ग्रहोंकी स्थितियां दी हैं, तब वे शनि जैसे प्रमुख ग्रहको भूल जाय यह संभव न जान हमारी दृष्टि प्रशस्तिके **चावम्हि वरणिवुत्ते** पाठपर गई। चाप का अर्थ तो धनु होता ही है, किन्तु वरणिवुत्ते से शनिका अर्थ नहीं निकल सका। पर साथ ही यह ध्यानमें आते देर न लगी कि संभवतः शुद्ध पाठ **तरणि-वुत्ते** (तरणिपुत्रे) है। तरणि सूर्यका पर्यायवाची है और शनि सूर्यपुत्र कहलाता है। इस प्रकार प्रशस्तिमें शनिका भी उल्लेख मिल गया और इन तीन ग्रहोंकी स्थितिसे हमारे अनुमान किए हुए धवलाके समाप्तिकाल शक संवत् ७३८ की पूरी पुष्टि हो गई।

इन ग्रहोंका इन्ही राशियोंमें योग शक ७३८ के अतिरिक्त केवल शक ३७८, ५५८, ९१८, १०९८, १२७८, १४५८, १६३८ और १८१८ मेंही पाया जाता है, और ये कोईभी संवत् धवलाके रचनाकालके लिये उपयुक्त नही हो सकते।

अब ग्रहोंमेंसे केवल तीन अर्थात् केतु, मंगल और बुध ही ऐसे रह गये जिनका नामोल्लेख प्रशस्तिमें हमारे दृष्टिगोचर नहीं हुआ। केतुकी स्थिति सदैव राहुसे सप्तम राशिपर रहती है, अतः राहुकी स्थिति बता देने पर उसकी स्थिति आप ही स्पष्ट हो जाती है कि उस समय केतु सिंह राशिमें था। प्रशस्तिके शेष शब्दोंपर विचार करनेसे हमें मंगल और बुधका भी पता लग जाता है। प्रशस्तिमें '**कोणे**' शब्द आया है। कोण शब्द कोषके अनुसार मंगलका भी पर्यायवाची है[1]। जैसा आगे चलकर ज्ञात होगा, कुंडली-चक्रमें मंगलकी स्थिति कोनेमें आती है, इसीसे संभवतः मंगलका यह पर्याय कुशल कविको यहां उपयुक्त प्रतीत हुआ। अतः मंगलकी स्थिति राहुके साथ कुंभ राशिमें थी। राहु पदकी तृतीया विभक्ति इसी साथको व्यक्त करनेके लिये रखी गई जान पड़ती है। अब केवल '**भावविलग्गे**' और '**कुलविल्लए**' शब्द प्रशस्तिमें ऐसे बच रहे हैं जिनका अभीतक उपयोग नही हुआ। कुल का अर्थ कोषानुसार बुध भी होता है,[2] और बुध सूर्यकी आजू बाजूकी राशियोंसे बाहर नहीं जा सकता। जान पड़ता है यहां कुलविल्लए का अर्थ 'कुलविलये' है। अर्थात् बुधकी सूर्यकी ही राशिमें स्थिति होनेसे उसका विलय था। गाथामें मात्रापूर्तिके लिये विलए का विल्लए कर दिया प्रतीत होता है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

जब तक लग्नका समय नहीं दिया जाता तब तक ज्योतिष कुंडली पूरी नहीं कही जा सकती। इस कमी की पूर्ति '**भावविलग्गे**' पद से होती है। 'भावविलग्गे' का कुछ ठीक अर्थ नहीं बैठता। पर यदि हम उसकी जगह '**भाणुविलग्गे**' पाठ ले लें तो उससे यह अर्थ निकलता है कि उस समय सूर्य लग्नकी राशिमें था, और क्योंकि सूर्यकी राशि अन्यत्र तुला बतला दी है, अतः ज्ञात हुआ कि धवला टीका को वीरसेन स्वामीने प्रातःकालके समय पूरी की थी जब तुला राशिके साथ सूर्यदेव उदय हो रहे थे।

इस विवेचनद्वारा उक्त प्रशस्तिके समयसूचक पद्योंका पूरा संशोधन हो जाता है, और उससे धवलाकी समाप्तिका काल निर्विवाद रूपसे शक ७३८ कार्तिक शुक्ल १३, तदनुसार तारीख ८ अक्टूबर सन् ८१६, दिन बुधवार का प्रातःकाल, सिद्ध हो जाता है। उससे वीरसेन स्वामीके सूक्ष्म ज्योतिष-ज्ञानका भी पता चल जाता है।

अब हम उन तीन पद्योंको शुद्धतासे इस प्रकार पढ सकते हैं—

अठतीसम्हि सतसए विक्कमरायंकिए सु-सगणामे।
वासे सुतेरसीए भाणु-विलग्गे धवल-पक्खे॥ ६॥
जगतुंगदेव-रज्जे रियम्हि कुंभम्हि राहुणा कोणे।
सूरे तुलाए संते गुरुम्हि कुलविल्लए होंते॥ ७॥
चावम्हि तरणि-वुत्ते सिंघे सुक्कम्मि मीणे चंदम्मि।
कत्तिय-मासे एसा टीका हु समाणिआ धवला॥ ८॥

---

१ Apte : Sanskrit English Dictionary.
२ ,, ,, ,, ,,

इस पर से धवला की जन्मकुंडली निम्नप्रकारसे खींची जा सकती है—

वीरसेनस्वामीने अपनी टीकाका नाम धवला क्यों रक्खा यह कहीं बतलाया गया दृष्टिगोचर नहीं हुआ। धवलका शब्दार्थ शुक्लके अतिरिक्त शुद्ध, विशद, स्पष्ट भी होता है।

मार्गदर्शक - आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

धवला नामकी सार्थकता

संभव है अपनी टीकाके इसी प्रसाद गुणको व्यक्त करनेके लिये उन्होंने यह नाम चुना हो। ऊपर दी हुई प्रशस्तिसे ज्ञात है कि यह टीका कार्तिक मासके धवल पक्षकी त्रयोदशीको समाप्त हुई थी। अतएव संभव है इसी निमित्तसे रचयिताको यह नाम उपयुक्त जान पड़ा हो। ऊपर बतला चुके हैं कि यह टीका वद्दिग उपनामधारी अमोघवर्ष (प्रथम) के राज्यके प्रारंभकालमें समाप्त हुई थी। अमोघवर्षकी अनेक उपाधियोंमें एक उपाधि 'अतिशय-धवल' भी मिलती है[1]। उनकी इस उपाधिकी सार्थकता या तो उनके शरीरके अत्यन्त गौरवर्णमें हो या उनकी अत्यन्त शुद्ध सात्विक प्रकृतिमें। अमोघवर्ष बडे धार्मिक बुद्धिवाले थे। उन्होंने अपने वृद्धत्वकालमें राज्यपाट छोडकर वैराग्य धारण किया था और 'प्रश्नोत्तररत्नमालिका' नामक सुन्दर काव्य लिखा था। बाल्यकालसे ही उनकी यह धार्मिक बुद्धि प्रकट हुई होगी। अतः संभव है उनकी यह 'अतिशय धवल' उपाधि भी धवलाके नामकरणमें एक निमित्तकारण हुआ हो।

८. धवलासे पूर्वके टीकाकार

ऊपर कह आये हैं कि जयधवलाकी प्रशस्तिके अनुसार वीरसेनाचार्यने अपनी टीकाद्वारा सिद्धान्त ग्रन्थोंकी बहुत पुष्टि की, जिससे वे अपनेसे पूर्वके समस्त पुस्तकशिष्योंसे बढ़ गये[2]। इससे प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या वीरसेनसे भी पूर्व इस सिद्धान्त ग्रन्थकी अन्य टीकाएं लिखी गई थीं? इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतारमें दोनों सिद्धान्त ग्रन्थोंपर लिखी गई अनेक टीकाओंका उल्लेख किया है जिसके आधारसे षट्खण्डागमकी धवलासे पूर्व रची गई टीकाओंका यहां परिचय दिया जाता है।

---

१ रेऊ: भारतके प्राचीन राजवंश, ३, पृ. ४०.

२ पुस्तकानां चिरत्नानां गुरुत्वमिह कुर्वता। येनातिशयिताः पूर्वे सर्वे पुस्तकशिष्यकाः ॥२४॥
(जयधवलाप्रशस्ति)

'परिकर्म'[1] और उसके रचयिता कुन्दकुन्द

कर्मप्राभृत (षट्खण्डागम) और **कषायप्राभृत** इन दोनों सिद्धान्तोंका ज्ञान गुरु-परिपाटीसे कुन्दकुन्दपुरके **पद्मनन्दि** मुनिको प्राप्त हुआ और उन्होंने सबसे पहले षट्खण्डागमके प्रथम तीन खण्डोंपर बारह हजार श्लोक प्रमाण एक टीका ग्रन्थ रचा जिसका नाम **परिकर्म** था[2]। हम ऊपर बतला आये हैं कि इन्द्रनन्दिका कुन्दकुन्दपुरके पद्मनन्दिसे हमारे उन्हीं प्रातःस्मरणीय **कुन्दकुन्दाचार्य** का ही अभिप्राय हो सकती है जो दिगम्बर जैन संप्रदायमें सबसे बडे आचार्य गिने गये हैं और जिनके प्रवचनसार, समयसार आदि ग्रंथ जैन सिद्धान्तके सर्वोपरि प्रमाण माने जाते हैं। दुर्भाग्यतः उनकी बनायी यह टीका प्राप्य नहीं है और न किन्हीं अन्य लेखकोंने उसके कोई उल्लेखादि दिये। किंतु स्वयं **धवला** टीकामें **परिकर्म** नामके ग्रन्थका अनेकबार उल्लेख आया है। धवलाकारने कहीं '**परिकर्म**' से उद्धृत किया है,[3] कहीं कहा है कि यह बात '**परिकर्म**' के कथनपरसे जानी जाती है[4] और कहीं अपने कथनका परिकर्मके कथनसे विरोध आनेकी शंका उठाकर उसका समाधान किया है[5]। एक स्थानपर उन्होंने परिकर्मके कथनके विरुद्ध अपने कथनकी पुष्टि भी की है और कहा है कि उन्हींके व्याख्यानको ग्रहण करना चाहिए, परिकर्मके व्याख्यानको नहीं, क्योंकि, वह व्याख्यान सूत्रके विरुद्ध जाता है[6]। इससे स्पष्ट ही ज्ञात होता है कि '**परिकर्म**' इसी षट्खण्डागमकी टीका थी। इसकी पुष्टि एक और उल्लेखसे होती है जहां ऐसा ही विरोध उत्पन्न होनेपर कहा है कि यह कथन उस प्रकार नहीं है, क्योंकि, स्वयं '**परिकर्मकी**' प्रवृत्ति इसी सूत्रके बलसे हुई है[7]। इन उल्लेखोंसे इस बातमें कोई सन्देह नहीं रहता कि '**परिकर्म**' नामका ग्रंथ था, उसमें इसी आगमका व्याख्यान था और वह ग्रंथ वीरसेनाचार्यके सन्मुख विद्यमान था। एक उल्लेखद्वारा धवलाकारने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि '**परिकर्म**' ग्रंथको सभी आचार्य प्रमाण मानते थे[8]।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

उक्त उल्लेखोंमेंसे प्रायः सभीका सम्बन्ध षट्खण्डागमके प्रथम तीन खण्डोंके विषयसे ही है जिससे इन्द्रनन्दिके इस कथनकी पुष्टि होती है कि वह ग्रंथ प्रथम तीन खण्डोंपर ही लिखा गया था। उक्त उल्लेखोंपरसे 'परिकर्म' कर्ताके नामादिकका कुछ पता नहीं लगता। किंतु

---

१ एवं द्विविधो द्रव्यभावपुस्तकगतः समागच्छन्। गुरुपरिपाट्या ज्ञातः सिद्धान्तः **कुण्डकुन्दपुरे** ॥ १६०॥
श्रीपद्मनन्दिमुनिना सोऽपि द्वादशसहस्रपरिमाणः। ग्रन्थपरिकर्मकर्ता षट्खण्डाद्यत्रिखण्डस्य ॥ १६१ ॥
इन्द्रः श्रुतावतार.

३ '**त्ति परियम्मे** वुत्तं' (धवला अ. १४१)
'**परियम्मम्मि** वुत्तं' („ „ ६७८)

४ '**परियम्मवयणादो** णव्वदे' („ „ १६७)
'इदि **परियम्मवयणादो**' („ „ २०३)

५ 'ण च **परियम्मेण** सह विरोहो (धवला. अ. २०३)
परियम्मवयणेण सह एदं सुत्तं विरुज्झदि त्ति ण („ „ ३०४)

६ **परियम्मेण** एदं वक्खाणं किण्ण विरुज्झदे ? एदेण सह विरुज्झदे, किंतु सुत्तेण सह ण विरुज्झदे। तेण एदस्स वक्खाणस्स गहणं कायव्वं, ण **परियम्मस्स** तस्स सुत्तविरुद्धत्तादो। (धवला अ. २५९)

७ **परियम्मादो** असंखेज्जाओ जोयणकोडीओ सेढीए पमाणमवगदमिदि चे ण, एदस्स सुत्तस्स बलेण '**परियम्मपवुत्तीदो**' (धवला अ. पृ. १८६)

८ '**सयलाइरियसम्मदपरियम्मसिद्धत्तादो**'। (धवला अ. पृ. ५४२)

ऐसी भी कोई बात उनमें नहीं है कि जिससे वह ग्रंथ कुन्दकुन्दकृत न कहा जा सके। धवलाकारने कुन्दकुन्दके अन्य सुविख्यात ग्रंथोंका भी कर्ताका नाम दिये बिना ही उल्लेख किया है। यथा, वुत्तं च पंचत्थिपाहुडे (धवला. अ. पृ. २८९)

इन्द्रनन्दिने जो इस टीकाको सर्व प्रथम बतलाया है और धवलाकारने उसे सर्व-आचार्य-सम्मत कहा है, तथा उसका स्थान स्थानपर उल्लेख किया है, इससे इस ग्रंथके कुन्दकुन्दाचार्यकृत माननेमें कोई आपत्ति नहीं दिखती। यद्यपि इन्द्रनन्दिने यह नहीं कहा है कि यह ग्रंथ किस भाषामें लिखा गया था, किंतु उसके जो 'अवतरण' धवलामें आये हैं वे सब प्राकृतमें ही हैं, जिससे जान पड़ता है कि वह टीका प्राकृतमें ही लिखी गई होगी। कुन्दकुन्दके अन्य सब ग्रंथ भी प्राकृतमें ही हैं।

धवलामें परिकर्मका एक उल्लेख इस प्रकारसे आया है—

"'**अपदेसं णेव इंदिए गेज्झं**' इदि परमाणूणं णिरवयवत्तं परियम्मे वुत्तमिदि" (ध. १११०)

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

इसका कुन्दकुन्दके नियमसारकी इस गाथासे मिलान कीजिये—

अत्तादि अत्तमज्झं अत्तंतं **णेव इंदिए गेज्झं**।
अविभागी जं दव्वं परमाणू तं विआणाहि ॥ २६ ॥

इन दोनों अवतरणोंके मिलानसे स्पष्ट है कि धवलामें आया हुआ उल्लेख नियमसारसे भिन्न है, फिर भी दोनोंकी रचनामें एक ही हाथ सुस्पष्टरूपसे दिखाई देता है। इन सब प्रमाणोंसे **कुन्दकुन्दकृत परिकर्म** के अस्तित्वमें बहुत कम सन्देह रह जाता है।

धवलाकारने एक स्थानपर 'परिकर्म' का सूत्र कह कर उल्लेख किया है। यथा— 'रूवाहियाणि त्ति **परियम्मसुत्तेण** सह विरुज्झइ' (धवला अ. पृ. १४३)। बहुधा **वृत्तिरूप** जो व्याख्या होती है उसे **सूत्र** भी कहते हैं। जयधवलामें **यतिवृषभाचार्य**को 'कषायप्राभृत' का '**वृत्तिसूत्रकर्ता**' कहा है। यथा—

'सो वित्तिसुत्तकत्ता **जइवसहो** मे वरं देऊ' (जयध० मंगलाचरण गा. ८)

इससे जान पड़ता है कि परिकर्म नामक व्याख्यान वृत्तिरूप था। इन्द्रनन्दिने परिकर्मको ग्रंथ कहा है। वैजयन्ती कोषके अनुसार ग्रंथ वृत्तिका एक पर्याय-वाचक नाम है। यथा— '**वृत्तिर्ग्रन्थजीवनयोः**' (वृत्ति उसे कहते हैं जिसमें सूत्रोंका ही विवरण हो, शब्द रचना संक्षिप्त हो और फिर भी सूत्रके समस्त अर्थोंका जिसमें संग्रह हो।) यथा—

'सुत्तस्सेव विवरणाए संखित्त-सद्द-रयणाए संगहिय-सुत्तासेसत्थाए वित्तसुत्त-ववएसादो।
(जयध० अ. ५२)

इन्द्रनन्दिने दूसरी जिस टीकाका उल्लेख किया है, वह **शामकुंड** नामक आचार्य-कृत थी। यह टीका छठवें खण्डको छोड़कर प्रथम पांच खण्डोंपर तथा दूसरे सिद्धान्तग्रंथ (कषायप्राभृत) पर भी थी। यह टीका **पद्धति** रूप थी। (वृत्तिसूत्रके विषम-पदोंका भंजन अर्थात् विश्लेषणात्मक विवरणको पद्धति कहते हैं।) यथा—

२ शामकुंडकृत पद्धति

वित्तिसुत्त-विसम-पयाभंजिए विवरणाए पइढइ-ववएसादो (जयध. पृ. ५२)

इससे स्पष्ट है कि शामकुंडके सन्मुख कोई वृत्तिसूत्र रहे हैं जिनकी उन्होंने पद्धति लिखी। हम ऊपर कह ही आये हैं कि कुन्दकुन्दकृत परिकर्म संभवतः वृत्तिरूप ग्रंथ था। अतः शामकुंडने उसी वृत्तिपर और उधर कषायप्राभृतकी यतिवृषभाचार्यकृत वृत्तिपर अपनी पद्धति लिखी।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

इस समस्त टीकाका परिमाण भी बारह हजार श्लोक था और उसकी भाषा प्राकृत संस्कृत और कनाडी तीनों मिश्रित थी। यह टीका परिकर्मसे कितने ही काल पश्चात् लिखी गई थी[1]। इस टीकाके कोई उल्लेख आदि धवला व जयधवलामें अभीतक हमारे दृष्टिगोचर नहीं हुए।

३ चूडामणिकर्ता तुम्बुलूराचार्य

इन्द्रनन्दिद्वारा उल्लेखित तीसरी सिद्धान्तटीका **तुम्बुलूर** नामके आचार्यद्वारा लिखी गई। ये आचार्य 'तुम्बुलूर' नामके एक सुन्दर ग्राममें रहते थे, इसीसे वे तुम्बुलूराचार्य कहलाये, जैसे कुण्डकुन्दपुरमें रहनेके कारण पद्मनन्दि आचार्यकी कुन्दकुन्द नामसे प्रसिद्धि हुई। इनका असली नाम क्या था यह ज्ञात नहीं होता। इन्होंने छठवें खण्डको छोड शेष दोनों सिद्धान्तोंपर एक बडी भारी व्याख्या लिखी, जिसका नाम '**चूडामणि**' था और परिमाण चौरासी हजार। इस महती व्याख्याकी भाषा कनाडी थी। इसके अतिरिक्त उन्होंने छठवें खंडपर सात हजार प्रमाण '**पञ्चिका**' लिखी। इस प्रकार इनकी कुल रचनाका प्रमाण ९१ हजार श्लोक हो जाता है। इन रचनाओंका भी कोई उल्लेख धवला व जयधवलामें हमारे दृष्टिगोचर नहीं हुआ। किन्तु महाधवलका जो परिचय 'धवलादिसिद्धान्त ग्रंथोंके प्रशस्तिसंग्रह' में दिया गया है उसमें पंचिकारूप विवरणका उल्लेख पाया जाता है[2]। यथा—

वोच्छामि संतकम्मे पंचियरूवेण विवरण सुमहत्थ ॥........पुणो तेहितो सेसट्ठारसणि-योगद्दाराणि संतकम्मे सव्वाणि परूविदाणि। तो वि तस्सइगंभिरत्तादो अत्थविसमपदाणमत्थे थोरुद्धयेण पंचिय-सरूवेण भणिस्सामो।

जान पडता है यही तुम्बुलूराचार्यकृत षष्ठम खंडकी वह पंचिका है जिसका इन्द्रनन्दिने उल्लेख किया है। यदि यह ठीक हो तो कहना पडेगा कि चूडामणि व्याख्याकी भाषा कनाडी थी, किंतु इस पंचिकाको उन्होंने प्राकृतमें रचा था।

भट्टाकलंकदेवने अपने कर्णाटक शब्दानुशासनमें कनाडी भाषामें रचित '**चूडामणि**' नामक तत्वार्थमहाशास्त्र व्याख्यानका उल्लेख किया है। यद्यपि वहां इसका प्रमाण ९६ हजार

---

१ काले ततः कियत्यपि गते पुनः शामकुण्डसंज्ञेन। आचार्येण ज्ञात्वा द्विभेदमप्यागमः कार्त्स्न्यात् ॥ १६२
द्वादशगुणितसहस्रं ग्रन्थं सिद्धान्तयोरुभयोः। षष्ठेन विना खण्डेन पृथुमहाबन्धसंज्ञेन ॥ १६३ ॥
प्राकृतसंस्कृतकर्णाटभाषया पद्धतिः परा रचिता ॥ इन्द्र. श्रुतावतार.

२ वीरवाणीविलास जैनसिद्धान्तभवनका प्रथम वार्षिक रिपोर्ट, १९३५.

बतलाया है जो [illegible] इसी तुम्बुलूराचार्यकृत 'चूडामणि' से है ऐसा जान पडता है[1]। इनके रचना-कालके विषयमें इन्द्रनन्दिने इतनाही कहा है कि शामकुंडसे कितने ही काल पश्चात् तुम्बुलूराचार्य हुए[2]।

तुम्बुलूराचार्यके पश्चात् कालान्तरमें **समन्तभद्र** स्वामी हुए, जिन्हें इन्द्रनन्दिने **'तार्किकार्क'** कहा है। उन्होंने दोनों सिद्धान्तोंका अध्ययन करके षट्खण्डागमके पांच खंडोंपर ४८ हजार श्लोकप्रमाण टीका रची। इस टीकाकी भाषा अत्यंत सुंदर और मृदुल संस्कृत थी[3]।

४ समन्तभद्र-स्वामीकृत टीका

यहां इन्द्रनन्दिका अभिप्राय निश्चयतः आप्तमीमांसादि सुप्रसिद्ध ग्रन्थोंके रचयितासे ही है, जिन्हे अष्टसहस्रीके टिप्पणकारने भी **'तार्किकार्क'** कहा है। यथा—

तदेवं महाभागै**स्तार्किकार्कै**रुपज्ञातां........आप्तमीमांसाम्........

(अष्टस. पृ. १ टिप्पण)

धवला टीकामें समन्तभद्रस्वामीके नामसहित दो अवतरण हमारे दृष्टिगोचर हुए हैं। इनमेंसे प्रथम पत्र ४९४ पर है। यथा—

'तहा **समंतभद्दसामिणा** वि उत्तं, विधिर्विषक्तप्रतिषेधरूप.........इत्यादि'

यह श्लोक बृहत्स्वयम्भूस्तोत्रका है। दूसरा अवतरण पत्र ७०० पर है। यथा—

'तथा **समंतभद्रस्वामिना**प्युक्तं, स्याद्वादप्रविभक्तार्थविशेषव्यंजको नयः।'

यह आप्तमीमांसाके श्लोक १०६ का पूर्वार्ध है। और भी कुछ अवतरण केवल 'उक्तं च' रूपसे आये हैं जो बृहत्स्वयम्भूस्तोत्रादि ग्रन्थोंमें मिलते हैं। पर हमें ऐसा कहीं कुछ अभी तक नहीं मिल सका जिससे उक्त टीकाका पता चलता। श्रुतावतारके 'असन्ध्यां पलरि' पाठमें संभवतः आचार्यके निवासस्थानका उल्लेख है, किन्तु पाठ अशुद्धसा होनेके कारण ठीक ज्ञात नहीं होता[4]।

---

१ न चैषा (कर्णाटकी) भाषा शास्त्रानुपयोगिनी, तत्त्वार्थमहाशास्त्रव्याख्यानस्य षण्णवतिसहस्र-ग्रंथसंदर्भरूपस्य **चूडामण्य**भिधानस्य महाशास्त्रस्यान्येषां च शब्दागम-युक्त्यागम-परमागम-विषयाणां तथा काव्य नाटक कलाशास्त्र-विषयाणां च बहूनां ग्रन्थानामपि भाषाकृतानामुपलभ्यमानत्वात्। (समन्तभद्र. पृ. २१८)

२ तस्मादारात्पुनरपि काले गतवति कियत्यपि च।
अथ **तुम्बुलूर**नामाचार्योऽभूत्तुम्बुलूरसद्ग्रामे। षष्ठेन विना खण्डेन सोऽपि सिद्धान्तयोरुभयोः ॥१६५॥
चतुरधिकाशीतिसहस्रग्रन्थरचनया युक्ताम्। कर्णाटभाषयाऽकृत महतीं **चूडामणिं** व्याख्याम् ॥१६६॥
सप्तसहस्रग्रन्थां षष्ठस्य च **पंचिकां** पुनरकार्षीत्। इन्द्र. श्रुतावतार.

३ कालान्तरे ततः पुनरासंध्यां पलरि (?) **तार्किकार्को**भूत् ॥ १६७॥
श्रीमान् **समन्तभद्रस्वामी**त्यथ सोऽप्यधीत्य तं द्विविधम्।
सिद्धान्तमतः षट्खण्डागमगतखण्डपञ्चकस्य पुनः ॥ १६८॥
अष्टौ चत्वारिंशत्सहस्रसद्ग्रन्थरचनया युक्ताम्।
विरचितवानतिसुन्दरमृदुसंस्कृतभाषया टीकाम् ॥ १६९॥ इन्द्र. श्रुतावतार.

४ देखो, पं. जुगलकिशोर मुख्तारकृत समन्तभद्र पृ. २१२.

जिनसेनाचार्यकृत हरिवंशपुराणमें समन्तभद्रनिर्मित '**जीवसिद्धि**' का उल्लेख आया है[1], किंतु यह ग्रंथ अभीतक मिला नहीं है। कहीं यह समन्तभद्रकृत '**जीवठ्ठाण**' की टीकाका ही तो उल्लेख न हो? समन्तभद्रकृत **गंधहस्तिमहाभाष्य**के भी उल्लेख मिलते हैं, जिनमें उसे **तत्त्वार्थ** या **तत्त्वार्थसूत्र**का व्याख्यान कहा है[2]। इस परसे माना जाता है कि समन्तभद्रने यह भाष्य उमास्वातिकृत तत्त्वार्थसूत्रपर लिखा होगा। किंतु यह संभव है कि उन उल्लेखोंका अभिप्राय समन्तभद्रकृत इन्हीं सिद्धान्तग्रंथोंकी टीकासे हो। इन ग्रन्थोंकी भी '**तत्त्वार्थमहाशास्त्र**' नामसे प्रसिद्धि रही है, क्योंकि, जैसा हम ऊपर कह आये हैं, तुम्बुलूराचार्यकृत इन्हीं ग्रन्थोंकी '**चूडामणि**' टीकाको अकलंकदेवने तत्त्वार्थमहाशास्त्र व्याख्यान कहा है।

इन्द्रनन्दिने कहा है कि समन्तभद्र स्वामी द्वितीय सिद्धान्तकी भी टीका लिखनेवाले थे, किन्तु उनके एक सहधर्मिने उन्हें ऐसा करनेसे रोक दिया। उनके ऐसा करनेका कारण द्रव्यादि-शुद्धि-करण-प्रयत्नका अभाव बतलाया गया है[3]। संभव है कि यहां समन्तभद्रकी उस भस्मक व्याधिकी ओर संकेत हो, जिसके कारण कहा गया है कि उन्हे कुछ काल अपने मुनि आचारका अतिरेक करना पड़ा था। उनके इन्ही भावों और शरीरकी अवस्थाको उनके सहधर्मीने द्वितीय सिद्धान्त ग्रन्थकी टीका लिखनेमें अनुकूल न देख उन्हें रोक दिया हो।

यदि समन्तभद्रकृत टीका संस्कृतमें लिखी गई थी और वीरसेनाचार्यके समय तक, विद्यमान थी तो उसका धवला जयधवलामें उल्लेख न पाया जाना बडे आश्चर्यकी बात होगी।

सिद्धान्तग्रन्थोंका व्याख्यानक्रम गुरु-परम्परसे चलता रहा। इसी परम्परामें **शुभनन्दि** और **रविनन्दि** नामके दो मुनि हुए, जो अत्यन्त तीक्ष्णबुद्धि थे। उनसे **बप्पदेवगुरुने** वह समस्त सिद्धान्त विशेषरूपसे सीखा। वह व्याख्यान **भीमरथि** और **कृष्णमेख** नदियोंके बीचके प्रदेशमें **उत्कलिका** ग्रामके समीप **मगणवल्ली** ग्राममें हुआ था। भीमरथि कृष्णा नदीकी शाखा है और इनके बीचका प्रदेश अब बेलगांव और धारवाड कहलाता है। वहीं यह बप्पदेव गुरुका सिद्धान्त-अध्ययन हुआ होगा। इस अध्ययनके पश्चात् उन्होंने महाबन्धको छोड़ शेष पांच खंडोंपर '**व्याख्याप्रज्ञप्ति**' नामकी

५ बप्पदेव गुरुकृत व्याख्याप्रज्ञप्ति

---

१ जीवसिद्धिविधायीह कृतयुक्त्यनुशासनम्। वचः समन्तभद्रस्य वीरस्येव विजृंभते॥

हरिवंशपुराण. १. ३०.

२ तत्वार्थसुत्रव्याख्यानगन्धहस्तिप्रवर्तकः। स्वामी समन्तभद्रोऽभूद्देवागमनिदेशकः॥

(हस्तिमल्ल. विक्रान्तकौरवनाटक, मा. ग्रं. मा.)

तत्वार्थ-व्याख्यान-षण्णवति-सहस्र-गंधहस्ति-महाभाष्य-विधायक-देवागम-कवीश्वर-स्याद्वाद-विद्याधिपति-समन्तभद्र......।(एक प्राचीन कन्नड ग्रन्थ, देखो समन्तभद्र. पृ. २२०)

श्रीमत्तत्त्वार्थशास्त्रोद्भूतसलिलनिधेरिद्धरत्नोद्भवस्य।
प्रोत्थानारम्भकाले सकलमलभिदे शास्त्रकारैः कृतं यत्।

(विद्यानन्द. आप्तमीमांसा)

३ विलिखन् द्वितीयसिद्धान्तस्य व्याख्यां सधर्मणा स्वेन।
द्रव्यादिशुद्धिकरणप्रयत्नविरहात् प्रतिषिद्धम्॥ १७०॥

इन्द्र. श्रुतावतार.

टीका लिखी। तत्पश्चात् उन्होंने छठे खण्डकी संक्षेपमें व्याख्या लिखी। इस प्रकार छहों खंडोंके निष्पन्न हो जानेके पश्चात् उन्होंने कषायप्राभृतकी भी टीका रची। उक्त पांच खंडों और कषायप्राभृतकी टीकाका परिमाण साठ हजार, और महाबंधकी टीकाका 'पांच अधिक आठ हजार' था, और इस सब रचनाकी भाषा प्राकृत थी'[1]।

धवलामें व्याख्याप्रज्ञप्तिके दो उल्लेख हमारी दृष्टिमें आये हैं। एक स्थानपर उसके अवतरण द्वारा टीकाकारने अपने मतकी पुष्टि की है। यथा—

लोगो वादपदिट्ठिदो त्ति **वियाहपण्णत्तिवयणादो** (ध. १४३)

दूसरे स्थानपर उससे अपने मतका विरोध दिखाया है और कहा है कि आचार्य भेदसे वह भिन्न-मान्यताको लिए हुए है और इसलिये उसका हमारे मतसे ऐक्य नहीं है। यथा—

'एदेण **वियाहपण्णत्तिसुत्तेण** सह कधं ण विरोहो? ण, एदम्हादो तस्स पुधसुदस्स आयरियभेएण भेदमावण्णस्स एयत्ताभावादो (ध. ८०८)

इस प्रकारके स्पष्ट मतभेदसे तथा उसके सूत्र कहे जानेसे इस व्याख्याप्रज्ञप्तिको इन सिद्धान्त ग्रन्थोंकी टीका माननेमें आशंका उत्पन्न हो सकती है। किन्तु जयधवलामें एक स्थानपर लेखकने बप्पदेवका नाम लेकर उनके और अपने बीचके मतभेदको बतलाया है। यथा—

चुण्णिसुत्तम्मि **बप्पदेवाइरियलिहिदुच्चारणाए** अंतोमुहुत्तमिदि भणिदो। अम्हेहि लिहिदुच्चरणाए पुण जह० एगसमओ, उक्क० संखेज्जा समया त्ति परूविदो (जयध० १८५)

इन अवरतणोंसे बप्पदेव और उनकी टीका 'व्याख्याप्रज्ञप्ति' का अस्तित्व सिद्ध होता है। धवलाकार वीरसेनाचार्यके परिचयमें हम कह ही आये हैं कि इन्द्रनन्दिके अनुसार उन्होंने व्याख्याप्रज्ञप्तिको पाकर ही अपनी टीका लिखना प्रारम्भ किया था।

उक्त पांच टीकाएं षट्खंडागमके पुस्तकारूढ होनेके काल (विक्रमकी २ री शताब्दि) से धवलाके रचना काल (विक्रमकी ९ वी शताब्दि) तक रची गई जिसके अनुसार स्थूल मानसे कुन्दकुन्द दूसरी शताब्दीमें, शामकुंड तीसरीमें, तुम्बुलूर चौथीमें, समन्तभद्र पांचवीमें और बप्पदेव छठवी और आठवीं शताब्दीके बीच अनुमान किये जा सकते हैं।

---

१ एवं व्याख्यानक्रममवाप्तवान् परमगुरुपरम्परया। आगच्छन् सिद्धान्तो द्विविधोऽप्यतिनिशितबुद्धिभ्याम् ॥ १७१ ॥

शुभ-रवि-नन्दिमुनिभ्यां भीमरथि-कृष्णमेखयोःसरितोः। मध्यमविषये रमणीयोत्कलिकाग्रामसामीप्यम् ॥ १७२ ॥

विख्यातमगणवल्लीग्रामेऽथ विशेषरूपेण। श्रुत्वा तयोश्च पार्श्वे तमशेषं बप्पदेवगुरुः ॥ १७३ ॥

अपनीय महाबन्धं षट्खण्डाच्छेषपंचखंडे तु। व्याख्याप्रज्ञप्तिं च षष्ठं खंडं च ततः संक्षिप्य ॥ १७४ ॥

षण्णां खंडानामिति निष्पन्नानां तथा कषायाख्य-प्राभृतकस्य च षष्ठिसहस्रग्रन्थप्रमाणयुताम् ॥ १७५ ॥

व्यलिखत्प्राकृतभाषारूपां सम्यक्पुरातनव्याख्याम्। अष्टसहस्रग्रंथां व्याख्यां पञ्चाधिकां महाबंधे ॥ १७६ ॥

इन्द्र. श्रुतावतार.

प्रश्न हो सकता है कि ये सब टीकाएं कहां गई और उनका पठन-पाठनरूपसे प्रचार क्यों विच्छिन्न हो गया ? हम धवलाकारके परिचयमें ऊपर कह ही आये हैं कि उन्होंने, उनके शिष्य जिनसेनके शब्दोंमें, चिरकालीन पुस्तकोंका गौरव बढ़ाया और इस कार्यमें वे अपनेसे पूर्वके समस्त पुस्तक- शिष्योंसे बढ़ गये। जान पड़ता है कि इसी टीकाके प्रभावमें उक्त सब प्राचीन टीकाओंका प्रचार रुक गया। वीरसेनाचार्यने अपनी टीकाके विस्तार व विषयके पूर्ण परिचय तथा पूर्वमान्यताओं व मतभेदोंके संग्रह, आलोचन व मंथनद्वारा उन पूर्ववती टीकाओंको पाठकोंकी दृष्टिसे ओझल कर दिया। किन्तु स्वयं यह वीरसेनीया टीका भी उसी प्रकारके अन्धकारमें पड़नेसे अपनेको नहीं बचा सकी। नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीने इसका पूरा सार लेकर संक्षेपमें सरल और सुस्पष्टरूपसे गोम्मटसारकी रचना कर दी, जिससे इस टीकाका भी पठन-पाठन प्रचार रुक गया। यह बात इसीसे सिद्ध है कि गत सात-आठ शताब्दीओंमें इसका कोई साहित्यिक उपयोग हुआ नहीं जान पड़ता और इसकी एकमात्र प्रति पूजाकी वस्तु बनकर तालोंमें बन्द पडी रही। किन्तु यह असंभव नहीं है कि पूर्वकी टीकाओंकी प्रतियां अभी भी दक्षिणके किसी शास्त्रभंडारमें पडी हुई प्रकाशकी बाट जोह रही हों। दक्षिणमें पुस्तकें ताडपत्रोंपर लिखी जाती थीं और ताड़पत्र जल्दी क्षीण नहीं होते। साहित्यप्रेमियोंको दक्षिणप्रान्तके भण्डारोंकी इस दृष्टिसे भी खोजबीन करते रहना चाहिए।

९. धवलाकारके सन्मुख उपस्थित साहित्य

धवला और जयधवलाको देखनेसे पता चलता है कि उनके रचयिता वीरसेन आचार्यके सन्मुख बहुत विशाल जैन साहित्य प्रस्तुत था। सत्प्ररूपणाका जो भाग अब प्रकाशित हो रहा है उसमें उन्होंने **सत्कर्मप्राभृत** व **कषायप्राभृत**के नामोल्लेख व उनके विविध अधिकारोंके उल्लेख व अवतरण आदि दिये हैं[१]। इनके अतिरिक्त सिद्धसेन दिवाकरकृत सन्मतितर्कका '**सम्मइसुत्त**' (सन्मतिसूत्र) नामसे उल्लेख किया है और एक स्थलपर उसके कथनसे विरोध बताकर उसका समाधान किया है, तथा उसकी सात गाथाओंको उद्धृत किया है[२]। उन्होंने अकलंकदेवकृत तत्त्वार्थ-राजवार्तिकका '**तत्त्वार्थभाष्य**' नामसे उल्लेख किया है और उसके अनेक अवतरण कहीं शब्दशः और कहीं कुछ परिवर्तनके साथ दिये हैं[३]। इनके सिवाय उन्होंने जो २१६ संस्कृत व प्राकृत पद्य बहुधा 'उक्तं च' कहकर और कहीं कहीं विना ऐसी सूचनाके उद्धृत किये हैं उनमेंसे हमें ६ कुन्दकुन्दकृत **प्रवचनसार**, **पंचास्तिकाय** व उसकी जयसेनकृत

सत्प्ररूपणामें उल्लिखित साहित्य

---

१ पृ. २०८, २२१, २२६ आदि

२ पृ. १५ व गाथा नं. ५, ६, ७, ८, ९, ६७, ६९.

३ पृ. १०३, २२६, २३२, २३४, २३९.

टीकामें[1], ७ तिलोयपण्णत्तिमें[2], १२ वट्टकेरकृत मूलाचारमें[3], १ अकलंकदेवकृत लघीयस्त्रयीमें[4], २ मूलाराधनामें[5], ५ वसुनन्दिश्रावकाचारमें[6], १ [illegible] शाकटायन-न्यासमें,[7] १ देवसेन-कृत नयचक्रमें[8], व १ विद्यानन्द आप्तपरीक्षामें[9] मिले हैं। गोम्मटसार जीवकाण्ड, कर्मकाण्ड, व जीवप्रबोधनी टीकामें इसकी ११० गाथाएं पाई गई हैं जो स्पष्टतः वहांपर यहींसे ली गई हैं। कई जगह तिलोयपण्णत्तिकी गाथाओंके विषयका उन्हीं शब्दोंमें संस्कृत पद्य अथवा गद्यद्वारा वर्णन किया है[10] व यतिवृषभाचार्यके मतका भी यहां उल्लेख आया है[11]। इनके अतिरिक्त इन गाथाओंमेंसे अनेक श्वेताम्बर साहित्यमें भी मिली हैं। सन्मतितर्ककी सात गाथाओंका हम ऊपर उल्लेख कर ही आये हैं। उनके सिवाय हमें ५ गाथाएं आचारांगमें[12], १ बृहत्कल्पसूत्रमें[13], ३ दशवैकालिकसूत्रमें[14], १ स्थानांग टीकामें[15], १ अनुयोगद्वारमें[16] व २ आवश्यक-निर्युक्तीमें[17] मिली हैं। इसके अतिरिक्त और विशेष खोज करनेसे दिगम्बर और श्वेताम्बर साहित्यमें प्रायः सभी गाथाओंके पाये जानेकी संभावना है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

सूत्र-पुस्तकोंमें पाठभेद व मतभेद

किंतु वीरसेनाचार्यके सन्मुख उपस्थित साहित्यकी विशालताको समझनेके लिये उनकी समस्त रचना अर्थात् धवला और जयधवलापर कमसे कम एक विहंगम-दृष्टि डालना आवश्यक है। यह तो कहनेकी आवश्यकता नहीं है कि उनके सन्मुख पुष्पदन्त, भूतबलि व गुणधर आचार्यकृत पूरा सूत्र-साहित्य प्रस्तुत था। पर इसमें भी यह बात उल्लेखनीय है कि इन सूत्र-ग्रंथोंके अनेक संस्करण छोटे-बडे पाठ-भेदोंको रखते हुए उनके सन्मुख विद्यमान थे। उन्होंने अनेक जगह सूत्र-पुस्तकोंके भिन्न भिन्न पाठों और तज्जन्य मतभेदोंका उल्लेख और यथाशक्ति समाधान किया है[18]।

कहीं कहीं सूत्रोंमें परस्पर विरोध पाया जाता था। ऐसे स्थलोंपर टीकाकारने निर्णय करनेमें अपनी असमर्थता प्रगट की है और स्पष्ट कह दिया है कि इनमें कौन सूत्र है और कौन असूत्र है इसका निर्णय आगममें निपुण आचार्य करें। हम इस विषयमें कुछ नहीं कह सकते,

---

१ गाथा नं. १, १३, ४६, ७२, ७३, १९८.

२ गाथा नं. २०, ३५, ३७, ५५, ५६, ६०.

३ गाथा नं. १८, ३१, (पाठभेद) ६५ (पाठभेद) ७०, ७१, १३४, १४७, १४८, १४९, १५०, १५१, १५२.

४ गाथा नं. ११. ५ गाथा नं. १६७, १६८. ६ गाथा नं. ५८, १६७, १६८, ३०, ७४.

७ गाथा नं. २. ८ गाथा नं १०. ९ गाथा नं. २२.

१० देखो पृ. १०, २८, २९, ३२, ३३, आदि. ११ देखो पृ. ३०२.

१२ गाथा नं. १४, १४९, १५०, १५१, १५२ (पाठभेद). १३ गाथा नं. ६२.

१४ गाथा नं. ३४, ७०, ७१. १५ गाथा नं. ८८. १६ गाथा नं. १४. १७ गाथा नं. ६८, १००.

१८ केसु वि सुत्तपोत्थएसु पुरिसवेदस्संतरं छम्मासा। धवला अ. ३४५.
केसु वि सुत्तपोत्थएसु उवलब्भइ, तदो एत्थ उवएसं लद्धूण वत्तव्वं। धवला. अ. ५९१.
केसु वि सुत्तपोत्थएसु विदियमद्धमस्सिदूण परूविद-अप्पाबहुअभावादो। धवला. अ. १२०६.
केसु वि सुत्तपोत्थएसु एसो पाठो। धवला. अ. १२४३.

क्योंकि, हमें इसका उपदेश कुछ नही मिला'[1]। कहीं उन्होंने दोनों विरोधी सूत्रोंका व्याख्यान कर दिया है, यह कह कर कि 'इसका निर्णय तो चतुर्दश पूर्वधारी व केवलज्ञानी ही कर सकते हैं, किंतु वर्तमान कालमें वे हैं नहीं, और अब उनके पाससे सुनकर आये हुए भी कोई नहीं पाये जाते। अतः सूत्रोंकी प्रामाणिकता नष्ट करनेसे डरनेवाले आचार्योंको तो दोनों सूत्रोंका व्याख्यान करना चाहिये[2]'। कहीं कहीं तो सूत्रोंपर उठाई गई शंका पर टीकाकारने यहांतक कह दिया है कि 'इस विषयकी पूछताछ **गौतम**से करना चाहिये, हमने तो यहां उनका अभिप्राय कहा है[3]'।

सूत्रविरोधका कहीं कहीं ऐसा कहकर भी उन्होंने समाधान किया है कि 'यह विरोध तो सत्य है किंतु एकान्तग्रहण नहीं करना चाहिये, क्योंकि, वह विरोध सूत्रोंका नहीं है, किंतु इन सूत्रोंके **उपसंग्रहकर्ता आचार्य** सकल श्रुतके ज्ञाता न होनेसे उनके द्वारा विरोध आ जाना संभव है[4]'। इससे वीरसेन स्वामीका यह मत जाना जाता है कि सूत्रोंमें पाठ-भेदादि परंपरागत आचार्योंद्वारा भी हो चुके थे। और यह स्वाभाविक ही है, क्योंकि, उनके उल्लेखोंसे ज्ञात होता है कि सूत्रोंका अध्ययन कई प्रकारसे चला करता था जिसके अनुसार कोई **सूत्राचार्य** थे[5], कोई **उच्चारणाचार्य**[6], कोई **निक्षेपाचार्य**[7] और कोई **व्याख्यानाचार्य**[8]। इनसे भी ऊपर '**महावाचकोंका**' पद ज्ञात होता है[9]। कषायप्राभृतके प्रकाण्ड ज्ञाता **आर्यमंक्षु** और **नागहस्ति**को

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

१ तदो तेहि सुत्तेहि एदेसिं सुत्ताणं विरोहो होदि त्ति भणिदे जदि एवं उवदेसं लद्धूण इदं सुत्तं इदं **वा**सुत्तमिदि आगम-णिउणा भणंतु, ण च अम्हे एत्थ वोत्तुं समत्था अलद्धोवदेसत्तादो। धवला. अ. ५६३.

२ होदु णाम तुम्हेहि वुत्तत्थस्स सच्चत्तं, बहुएसु सुत्तेसु वणप्फदीणं उवरि णिगोदपदस्स अणुवलंभादो। × × चोद्दसपुव्वधरो केवलणाणी वा, ण च वट्टमाणकाले ते अत्थि। ण च तेसिं पासे सोदूणागदा वि संपहि उवलब्भंति। तदो थप्पं काऊण वे वि सुत्ताणि सुत्तासायण-भीरूहि आयरिएहि वक्खाणेयव्वाणि। धवला. अ. ५६७.

३ सुत्ते वणप्फदिसण्णा किण्ण णिद्दिट्ठा ? **गोदमो** एत्थ पुच्छेयव्वो। अम्हेहि गोदमो बादरणिगोद-पदिट्ठिदाणं वणप्फदिसण्णं णेच्छदि त्ति तस्स अभिप्पाओ कहिओ। धवला. अ. ५६७.

४ कसायपाहुडसुत्तेणेदं सुत्तं विरुज्झदि त्ति वुत्ते सच्चं विरुज्झइ किंतु **एयंतग्गहो** एत्थ ण कायव्वो। × × कथं **सुत्ताणं विरोहो** ? ण, सुत्तोवसंघाराणमसयलसुद-धारयाइरियपरतंताणं-विरोह-संभव-दंसणादो। धवला. अ. ५८९.

५ **सुत्ताइरिय**-वक्खाण-पसिद्धो उवलब्भदे। तम्हा तेसु सुत्ताइरिय-वक्खाण-पसिद्धेण, ध. २९४.

६ एसो **उच्चारणाइरिय**-अभिप्पाओ। धवला अ. ७६४. एदेसिमणियोगद्दाराणमुच्चारणाइरियो-वएसबलेण परूवणं वत्तइस्सामो। जयध. अ. ८४२.

७ **णिक्खेवाइरिय**-परूविद-गाहाणमत्थं भणिस्सामो। धवला. अ. ८६३.

८ **वक्खाणाइरिय**-परूविदं वत्तइस्सामो। धवला. अ. १२३५.
वक्खाणाइरियाणमभावादो। धवला. अ. ३४८.

९ **महावाचयाणमज्जमंखुसमणाणमुवदेसेण**..... **महावाचयाणमज्जणंदीणं** उवदेसेण। धवला. अ. १४५७. **महावाचया** अज्जिणंदिणो संतकम्मं करेंति। ट्ठिदिसंतकम्मं पयासंति। धवला. अ. १४५८. अज्जमंखु-णागहत्थि-महावाचय-मुहकमल-विणिग्गएण सम्मत्तस्स। जयध. अ. ९७३.

अनेक जगह महावाचक कहा है। आर्यनन्दिका भी महावाचकरूपसे एक जगह उल्लेख है। संभवतः ये स्वयं वीरसेनके गुरु थे जिनका उल्लेख धवलाकी प्रशस्तिमें भी किया गया है।

धवलाकारने कई जगह ऐसे प्रसंग भी उठाये हैं जहां सूत्रोंपर इन आचार्योंका कोई मत उपलब्ध नहीं था। इनका निर्णय उन्होंने अपने गुरुके उपदेशके बल पर[1] व परंपरागत उपदेशद्वारा[2] तथा सूत्रोंसे अविरुद्ध अन्य आचार्योंके वचनोंद्वारा[3] किया है।

धवला पत्र १०३६ पर तथा जयधवलाके मंगलाचरणमें कहा गया है कि गुणधराचार्य विरचित कषायप्राभृत आचार्यपरंपरासे **आर्यमंक्षु** और **नागहस्ति** आचार्योंको प्राप्त हुआ और उनसे सीखकर **यतिवृषभने** उनपर **वृत्तिसूत्र** रचे। वीरसेन और जिनसेनके सन्मुख, जान पड़ता है, उन दोनों आचार्योंके अलग अलग व्याख्यान प्रस्तुत थे, क्योंकि, उन्होंने अनेक जगह उन दोनोंके मतभेदोंका उल्लेख किया है। [illegible] महावाचकके अतिरिक्त '**क्षमाश्रमण**' भी कहा है। यतिवृषभकृत चूर्णिसूत्रोंकी पुस्तक भी उनके सामने थी और उसके सूत्र-संख्या-क्रमका भी वीरसेनने बडा ध्यान रक्खा है[5]।

उत्तर और दक्षिण प्रतिपत्ति

सूत्रों और उनके व्याख्यानोंमें विरोधके अतिरिक्त एक और विरोधका उल्लेख मिलता है जिसे धवलाकारने **उत्तर-प्रतिपत्ति** और **दक्षिण-प्रतिपत्ति** कहा है। ये दो भिन्न मान्यताएं थी जिनमेंसे टीकाकार स्वयं दक्षिण-प्रतिपत्तिको स्वीकार करते थे, क्योंकि, वह ऋजु अर्थात् सरल, सुस्पष्ट और आचार्य-परंपरागत है, तथा उत्तर-प्रतिपत्ति अनृजु है और आचार्य-परंपरागत नहीं है। धवलामें इस प्रकारके तीन मतभेद हमारे दृष्टिगोचर हुए हैं। प्रथम द्रव्यप्रमाणानुयोगद्वारमें उपशमश्रेणीकी संख्या ३०४ बताकर कहा है—

'केवि पुवुत्तपमाणं पंचूणं करेंति। एदं पंचूणं वक्खाणं पवाइज्जमाणं दक्खिणमाइरिय-परंपरागयमिदि जं वुत्तं होई। पुव्वुत्त-वक्खाणमपवाइज्ज-माणं वाउं आइरियपरंपरा-अणागदमिदि णायव्वं।'

---

१ कधमेदं णव्वदे ? गुरूवदेसादो। धवला. अ. ३१२.

२ सुत्ताभावे सत्त चेव खंडाणि कीरंति त्ति कधं णव्वदे ? ण, आइरिय-परंपरागदुवदेसादो।
धवला. अ. ५९२.

३ कुदो णव्वदे ? अविरुद्धाइरियवयणादो सुत्त-समाणादो। धवला. अ. १२५७. सुत्तेण विणा .... कुदो णव्वदे ? सुत्तविरुद्धाइरियवयणादो। धवला. अ. १३३७.

४ कम्मट्ठिदि त्ति अणियोगद्दारे हि भण्णमाणे वे उवदेसा होंति। जहण्णुक्कस्सट्ठिदीणं पमाणपरूवणा कम्मट्ठिदिपरूवणे त्ति णागहत्थि-खमासमणा भणंति। अज्जमंखुखमासमणा पुण कम्मट्ठिदिपरूवणे त्ति भणंति। एवं दोहि उवदेसेहि कम्मट्ठिदिपरूवणा कायव्वा। (धवला. अ. १४४०.) एत्थ दुवे उवएसा. .महावाचयाण-मज्जमंखुखवणाणमुवदेसेण लोगपूरिदे आउगसमाण णामा-गोद-वेदणीयाणं ट्ठिदिसंत-कम्मं ठवेदि। महावाचयाणं णागहत्थि-खवणाणमुवएसेण लोगे पूरिदे णामा-गोद-वेदणीयाणं ट्ठिदिसंतकम्मं अंतोमुहुत्तपमाणं होदि।
जयध. अ. १२३९.

५ जइवसह-चुण्णिसुत्तम्मि णव-अंकुवलंभादो।..जइवसहठविद-बारहंकादो। जयध. अ. २४.

अर्थात् कोई कोई पूर्वोक्त प्रमाणमें पांचकी कमी करते हैं। यह पांचकी कमीका व्याख्यान प्रवचन-प्राप्त है, दक्षिण है और आचार्य-परंपरागत है। पूर्वोक्त व्याख्यान प्रवचन-प्राप्त नहीं है, वाम है और आचार्यपरंपरासे आया हुआ भी नहीं है, ऐसा जानना चाहिये।

इसीके आगे क्षपकश्रेणीकी संख्या ६०५ बताकर कहा गया है--

एसा **उत्तर-पडिवत्ती**। एत्थ दस अवणिदे **दक्खिण-पडिवत्ती** हवदि।

अर्थात् यह (६०५ की संख्यासंबंधी) उत्तर प्रतिपत्ति है। इसमेंसे दश निकाल देनेपर दक्षिण-प्रतिपत्ति हो जाती है।

आगे चलकर द्रव्यप्रमाणानुयोगद्वारमें ही संयतोंकी संख्या ८९९९९९९७ बतलाकर कहा है 'एसा **दक्खिण-पडिवत्ती**'। इसके अन्तर्गत भी मतभेदादिका निरसन करके, फिर कहा है 'एत्तो **उत्तर-पडिवत्ति** वत्तइस्सामो' और तत्पश्चात् संयतोंकी संख्या ६९९९९९९६ बतलाई है। यहां इनकी समीचीनताके विषयमें कुछ नहीं कहा।

दक्षिण-प्रतिपत्तिके अंतर्गत एक और मतभेदका भी उल्लेख किया गया है। कुछ आचार्योंने उक्त संख्याके संबंधमें जो शंका उठाई है उसका निरसन करके धवलाकार कहते हैं-

'जं दूसणं भणिदं तण्ण दूसणं, बुद्धिविहूणाइरियमुहविणिग्गयत्तादो।'

अर्थात् 'जो दूषण कहा गया है वह दूषण नहीं है, क्योंकि, वह बुद्धिविहीन आचार्योंके मुखसे निकली हुई बात है'। संभव है वीरसेन स्वामीने किसी समसामयिक आचार्यकी शंकाको ही दृष्टिमें रखकर यह भर्त्सना की हो।

उत्तर और दक्षिण प्रतिपत्ति भेदका तीसरा उल्लेख अन्तरानुयोगद्वारमें आया है जहां तिर्यंच और मनुष्योंके सम्यक्त्व और संयमादि धारण करनेकी योग्यताके कालका विवेचन करते हुए लिखते हैं--

'एत्थ वे उवदेसा, तं जहा-तिरक्खेसु वेमासमुहुत्तपुधत्तस्सुवरि सम्मत्तं संजमासंजमं च जीवो पडिवज्जदि। मणुसेसु गब्भादिअट्ठवस्सेसु अंतोमुहुत्तब्भहिएसु सम्मत्तं संजमं संजमासंजमं च पडिवज्जदि त्ति। एसा **दक्खिणपडिवत्ती**। दक्खिणं उज्जुवं आइरियपरंपरागदमिदि एयट्ठो। तिरिक्खेसु तिण्णि पक्ख तिण्णि दिवस अंतोमुहुत्तस्सुवरि सम्मतं संजमासंजमं च पडिवज्जदि। मणुसेसु अट्ठवस्साणमुवरि सम्मत्तं संजमं संजमासंजमं च पडिवज्जदि। एसा **उत्तरपडिवत्ती**, उत्तरमणुज्जुवं आइरियपरंपराए णागदमिदि एयट्ठो धवला. अ. ३३०

इसका तात्पर्य यह है कि सम्यक्त्व और संयमासंयमादि धारण करनेकी योग्यता दक्षिण प्रतिपत्तिके अनुसार तिर्यंचोंमें (जन्मसे) २ मास और मुहूर्तपृथक्त्वके पश्चात् होती है, तथा मनुष्योंमें गर्भसे ८ वर्ष और अन्तर्मुहूर्तके पश्चात् होती है। किन्तु उत्तर प्रतिपत्तिके अनुसार तिर्यंचोंमें वही योग्यता ३ पक्ष, ३ दिन और अन्तर्मुहूर्तके उपरान्त, तथा मनुष्योंमें ८ वर्षके उपरान्त होती है। धवलाकारने दक्षिण प्रतिपत्तिको यहां भी दक्षिण, ऋजु व आचार्य-परंपरागत कहा है और उत्तर प्रतिपत्तिको उत्तर, अनृजु और आचार्य-परम्परासे अनागत कहा है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

हमने इन उल्लेखोंका दूसरे उल्लेखोंकी अपेक्षा कुछ विस्तारसे परिचय इस कारण दिया है, क्योंकि, यह उत्तर और दक्षिण प्रतिपत्तिका मतभेद अत्यन्त महत्वपूर्ण और विचारणीय है। संभव है इनसे धवलाकारका तात्पर्य जैन समाजके भीतरकी किन्हीं विशेष साम्प्रदायिक मान्यताओंसे ही हो ?

धवलामें जिन अन्य आचार्यों व रचनाओंके उल्लेख दृष्टिगोचर हुए है वे इस प्रकार हैं। **त्रिलोकप्रज्ञप्ति**को धवलाकारने सूत्र कहा है और उसका यथास्थान खूब उपयोग किया है[1]।

तिलोयपण्णत्ति सूत्र व यतिवृषभाचार्य

हम उपर कह आये हैं कि सत्प्ररूपणामें तिलोयपण्णत्तिके मुद्रित अंशकी सात गाथाएं ज्योंकि त्यों पाई जाती हैं और उसके कुछ प्रकरण भाषा-परिवर्तन करके ज्योंके त्यों लिखे गये है। इस ग्रंथके कर्ता **यतिवृषभाचार्य** कहे जाते है जो जयधवलाके अन्तर्गत **कषायप्राभृतपर चूर्णिसूत्र** रचनेवाले यतिवृषभसे अभिन्न प्रतीत होते हैं[2]। सत्प्ररूपणामें भी यतिवृषभका उल्लेख आया है[3] व आगे भी उनके मतका उल्लेख किया गया है[4]।

पंचत्थिपाहुड

कुंदकुंदके पंचास्तिकायका '**पंचत्थिपाहुड**' नामसे उल्लेख आया है और उसकी दो गाथाएं भी उद्धृत की गई हैं[5]। सत्प्ररूपणामें उनके ग्रंथोंके जो अवतरण पाये जाते हैं उनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। **परिकर्म** ग्रंथके उल्लेख और उसके साथ कुंदकुंदाचार्यके संबन्धका विवेचन भी हम ऊपर कह आये हैं[6]।

गृद्धपिच्छाचार्यकृत तत्वार्थसूत्र

धवलाकारने **तत्वार्थसूत्र**को **गृद्धपिच्छाचार्यकृत** कहा है और उसके कई सूत्र भी उद्धृत किये हैं[7]। इससे तत्वार्थसूत्रसंबन्धी एक श्लोक व श्रवणबेलगोलके कुछ शिलालेखोंके उस कथनकी पुष्टि होती है जिसमें उमास्वातिको '**गृद्धपिछोपलांछित**' कहा है। सत्प्ररूपणामें भी तत्वार्थसूत्रके अनेक उल्लेख आये हैं।

---

१ तिरियलोगो त्ति तिलोयपण्णत्तिसुत्तादो। धवला. अ. १४३.
चंदाइच्चबिंबपमाणपरूवयतिलोयपण्णत्तिसुत्तादो। धवला. अ. १४३.
तिलोयपण्णत्तिसुत्ताणुसारि। धवला. अ. २५९.

२ Catlogue of Sans. & Prak. Mss. in C. P. & Berar, Intro. p. X V.

३ **यतिवृषभोपदेशात्** सर्वघातिकर्मणां इत्यादि। धवला. अ. ३०२.

४ एसो दंसणमोहणीय-उवसामओ त्ति **जइवसहेण** भणिदं। धवला. अ. ४२५.

५ धवला. अ. २८९ '**वुत्तं**' च '**पंचत्थिपाहुडे**' कहकर चार गाथाएं उद्धृत की गईं हैं जिनमेंसे दो पंचास्तिकायमें क्रमशः १०८, १०७ नंबर पर मिलती हैं। अन्य दो '**ण य परिणमइ सयं सो**' आदि व '**लोयायासपदेसे**' आदि गाथाएं हमारे सन्मुख वर्तमान पंचास्तिकायमें दृष्टिगोचर नहीं होती। किन्तु वे दोनों गो. जीवमें क्रमशः नं. ५७० और ५८९ पर पाई जाती हैं। धवलाके उसी पत्रपर आगे पुनः वही '**वुत्तं च पंचत्थिपाहुडे**' कहकर तीन गाथाएं उद्धृत की हैं जो पंचास्तिकायमें क्रमशः २३, २५ और २६ नं. पर मिलती हैं। (पंचास्तिकायसार, आरा, १९२०.)

६ देखो ऊपर पृ. ४६ आदि.

७ देखो पृ. १५१, २३२, २३६, २३९, २४०.

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

आचारांग

धवलामें एक गाथा इस प्रकारसे उद्धृत मिलती है

पंचत्थिकाया य छज्जीवणिकायकालदव्वमण्णे य ।
आणागेज्झे भावे आणाविचएण विचिणादि ॥

धवला. अ. २८९

यह गाथा वट्टकेरकृत मूलाचारमें निम्न प्रकारसे पाई जाती है—

पंचत्थिकायछज्जीवणिकाये कालदव्वमण्णे य ।
आणागेज्झे भावे आणाविचयेण विचिणादि ॥ ३९९ ॥

यदि उक्त गाथा यहींसे धवलामें उद्धृत की गई हो तो कहा जा सकता है कि उस समय मूलाचारकी प्रख्याति आचारांगके नामसे थी ।

स्वामी समन्तभद्रके जो उल्लेख दृष्टिगोचर होते हैं उनका परिचय हम षट्खंडागमकी अन्य टीकाओंके प्रकरणमें करा ही आये हैं ।

पूज्यपादकृत सारसंग्रह

धवलाकारने नयका निरूपण करते हुए एक जगह पूज्यपादद्वारा सारसंग्रहमें दिया हुआ नयका लक्षण उद्धृत किया है । यथा—

सारसंग्रहेऽप्युक्तं पूज्यपादैः– अनन्तपर्यायात्मकस्य वस्तुनोऽन्यतम-पर्यायाधिगमे कर्तव्ये जात्यहेत्वपेक्षो निरवद्यप्रयोगो नय इति ।

धवला. अ. ७०० वेदनाखंड

पहले अनुमान होता है कि संभव है पूज्यपादकृत सर्वार्थसिद्धिको ही यहां सारसंग्रह कहा गया हो । किन्तु उपलब्ध सर्वार्थसिद्धिमें नयका लक्षण इस प्रकारसे नहीं पाया जाता । इससे पता चलता है कि पूज्यपादकृत सारसंग्रह नामका कोई और ग्रन्थ धवलाकारके सन्मुख था । ग्रंथके नामपरसे जान पडता है कि उसमें सिद्धान्तोंका मथितार्थ संग्रह किया गया होगा । संभव है ऐसे ही सुन्दर लक्षणोंको दृष्टिमें रखकर धनञ्जयने अपने नाममालाकोषकी प्रशस्तिमें पूज्यपादके 'लक्षण' को अपश्चिम अर्थात् बेजोड कहा है । यथा—

प्रमाणमकलंकस्य पूज्यपादस्य लक्षणम् ।
द्विसंधानकवेः काव्यं रत्नत्रयमपश्चिमम् ॥ २०३ ॥

पूज्यपाद भट्टारक अकलंक

अकलंकदेवकृत तत्त्वार्थराजवार्तिकका धवलाकारने खूब उपयोग किया है और, जैसा हम ऊपर कह आये है, कहीं शब्दशः और कहीं कुछ हेरफेरके साथ उसके अनेक अवतरण दिये हैं । किन्तु न तो उनके साथ कहीं अकलंकका नाम आया और न 'राजवार्तिकका' । उन अवतरणोंको प्रायः 'उक्तं च तत्त्वार्थभाष्ये' या 'तत्त्वार्थभाष्यगत' प्रकट किया गया है । धवलामें एक स्थान (प. ७००) पर कहा गया है—

पूज्यपादभट्टारकैरप्यभाणि—सामान्य-नय-लक्षणमिदमेव । तद्यथा, प्रमाण-प्रकाशितार्थ-विशेष-प्ररूपको नयः इति ।

इसके आगे 'प्रकर्षेण मानं प्रमाणम्' आदि उक्त लक्षणकी व्याख्या भी दी गई है। यही लक्षण व व्याख्या तत्वार्थराजवार्तिक, १, ३३, १ में आई है। जयधवला (पत्र २६) में भी यह व्याख्या दी गई है और वहां उसे 'तत्वार्थभाष्यगत' कहा है। '**अयं वाक्यनयः तत्वार्थभाष्यगतः**'। इससे सिद्ध होता है कि राजवार्तिकका असली प्राचीन नाम '**तत्वार्थभाष्य**' है और उसके कर्ता अकलंकका सन्मानसूचक उपनाम 'पूज्यपाद भट्टारक' भी था। उनका नाम भट्टाकलंकदेव तो मिलता ही है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

प्रभाचन्द्र भट्टारक

धवलाके वेदनाखंडान्तर्गत नयके निरूपणमें (प. ७००) प्रभाचन्द्र भट्टारकद्वारा कहा गया नयका लक्षण उद्धृत किया गया है, जो इस प्रकार है—

'**प्रभाचन्द्र भट्टारकैरप्यभाणि– प्रमाण-व्यपाश्रय-परिणाम-विकल्प-वशीकृतार्थ-विशेष-प्ररूपण-प्रवणः प्रणिधिर्यः स नय इति।**'

ठीक यही लक्षण 'प्रमाणव्यपाश्रय' आदि जयधवला (प. २६) में भी आया है और उसके पश्चात् लिखा है 'अयं नास्य नयः प्रभाचन्द्रो यः'। यह हमारी प्रतिकी अशुद्धि ज्ञात होती है और इसका ठीक रूप 'अयं वाक्यनयः **प्रभाचन्द्रीयः**' ऐसा प्रतीत होता है।

प्रभाचन्द्रकृत दो प्रौढ न्याय-ग्रंथ सुप्रसिद्ध हैं, एक प्रमेयकमलमार्तण्ड और दूसरा न्यायकुमुदचन्द्रोदय। इस दूसरे ग्रंथका अभी एक ही खंड प्रकाशित हुआ है। उन दोनों ग्रंथोंमें उक्त लक्षणका पता लगानेका हमने प्रयत्न किया किन्तु वह उनमें नहीं मिला। तब हमने न्या. कु. चं. के सुयोग्य सम्पादक पं. महेन्द्रकुमारजीसे भी इसकी खोज करनेकी प्रार्थना की। किन्तु उन्होंने भी परिश्रम करनेके पश्चात् हमें सूचित किया कि बहुत खोज करनेपर भी उस लक्षणका पता नहीं लग रहा। इससे प्रतीत होता है कि प्रभाचन्द्रकृत कोई और भी ग्रंथ रहा है जो अभी तक प्रसिद्धिमें नहीं आया और उसीके अन्तर्गत वह लक्षण हो, या इसके कर्ता कोई दूसरे ही प्रभाचन्द्र हुए हों?

धनञ्जयकृत अनेकार्थ नाममाला

धवलामें 'इति' के अनेक अर्थ बतलानेके लिये '**एत्थ उवज्जंतओ सिलोगो**' अर्थात् इस विषय का एक उपयोगी श्लोक कहकर निम्न श्लोक उद्धृत किया है—

> हेतावेवं प्रकाराद्यैः व्यवच्छेदे विपर्ययः।
> प्रादुर्भावे समाप्तं च इति शब्दं विदुर्बुधाः॥ धवला. अ. ३८७

यह श्लोक **धनञ्जयकृत अनेकार्थ नाममालाका** है और वहां वह अपने शुद्धरूपमें इस प्रकार पाया जाता है—

> हेतावेवं प्रकारादौ व्यवच्छेदे विपर्यये।
> प्रादुर्भावे समाप्तौ च इति शब्दः प्रकीर्तितः॥ ३९॥

इन्हीं धनञ्जयका बनाया हुआ नाममाला कोष भी है जिसमें उन्होंने अपने **द्विसंधान काव्यको** तथा अकलंकके **प्रमाण** और **पूज्यपादके लक्षणको** अपश्चिम कहा है अर्थात् उनके

समान फिर कोई नही लिख सका[1]।

इससे यह तो स्पष्ट था कि उक्त कोषकार धनञ्जय, पूज्यपाद और अकलंकके पश्चात् हुए। किन्तु कितने पश्चात् इसका अभीतक निर्णय नहीं होता था। धवलाके उल्लेखसे
मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज
प्रमाणित होता है कि धनञ्जयका समय धवलाकी समाप्तिसे अर्थात् शक ७३८ से पूर्व है।

धवलामें कुछ ऐसे ग्रंथोंके उल्लेख भी पाये जाते हैं जिनके संबंधमें अभीतक कुछ भी नहीं कहा जा सकता कि वे कहांके और किसके बनाये हुए हैं। इस प्रकारका एक उल्लेख **जीवसमास**का है। यथा, (धवला प. २८९) **जीवसमासाए** वि उत्तं—

छप्पंचणव-विहाणं अत्थाणं जिणवरोवइट्ठाणं।
आणाए अहिगमेण य सद्दहणं होइ सम्मत्तं॥

यह गाथा 'उक्तं च' रूपसे सत्प्ररूपणामें भी दो बार आई है और गोम्मटसार जीवकाण्डमें भी है।

एक जगह धवलाकारने **छेदसूत्र** का उल्लेख किया है। यथा—

ण च दव्वित्थिणवुंसयवेदाणं चेलादिचाओ अत्थि **छेदसुत्तेण** सह विरोहादो।

धवला. अ. ९०७.

एक उल्लेख कर्मप्रवादका भी है। यथा—

'सा **कम्मपवादे** सवित्थरेण परूविदा' (धवला. अ. १३७१)

जयधवलामें एक स्थानपर **दशकरणीसंग्रह**का उल्लेख आया है। यथा—

....शुष्ककुडचपतितसिकतामुष्टिवदनन्तरसमये निर्वर्तते कर्मेर्यापथं वीतरागाणामिति। **दसकरणीसंगहे** पुण पुयडिबंधसंभवमेत्तमवेक्खिय वेदणीयस्स वीयरायगुणट्ठाणेसु वि बंधणाकरण-मोवट्टणाकरणं च दो वि भणिदाणि त्ति। जयध० अ. १०४२.

इस अवतरणपरसे इस ग्रंथमें कर्मोंकी बन्ध, उदय, संक्रमण आदि दश अवस्थाओंका वर्णन है ऐसा प्रतीत होता है।

ये थोडेसे ऐसे उल्लेख हैं जो धवला और जयधवलापर एक स्थूल दृष्टि डालनेसे प्राप्त हुए हैं। हमें विश्वास है कि इन ग्रंथोंके सूक्ष्म अवलोकनसे जैन धार्मिक और साहित्यिक इतिहासके सम्बंधमें बहुतसी नई बातें ज्ञात होगी जिनसे अनेक साहित्यिक ग्रंथियां सुलझ सकेंगी।

---

१ देखो पृ. ५३.

१०. षट्खंडागमका परिचय

पुष्पदन्त और भूतबलिद्वारा जो ग्रंथ रचा गया उसका नाम क्या था ? स्वयं सूत्रोंमें तो ग्रंथका कोई नाम हमारे देखनेमें नहीं आया, किंतु धवलाकारने ग्रंथकी उत्थानिकामें ग्रंथके मंगल, निमित्त, हेतु, परिमाण, नाम और कर्ता, इन छह ज्ञातव्य बातोंका परिचय कराया है। वहां इसे '**खंडसिद्धान्त**' कहा है और इसके खंडोंकी संख्या छह बतलाई है[१]। इस प्रकार धवलाकारने इस ग्रंथका नाम '**षट्खंड सिद्धान्त**' प्रगट किया है। उन्होंने यह भी कहा है कि सिद्धान्त और आगम एकार्थवाची हैं[२]। धवलाकारके पश्चात् इन ग्रंथोंकी प्रसिद्धि आगम परमागम व षट्खंडागम नामसे ही विशेषतः हुई। अपभ्रंश महापुराणके कर्ता पुष्पदन्तने धवल और जयधवलको **आगम सिद्धान्त**[३], गोम्मटसारके टीकाकारने **परमागम**[४] तथा श्रुतावतारके कर्ता इन्द्रनन्दिने **षट्खंडागम**[५] कहा है, और इन ग्रंथोंको आगम कहनेकी बडी भारी सार्थकता भी है। **सिद्धान्त** और **आगम** यद्यपि साधारणतः पर्यायवाची गिने जाते हैं, किंतु निरुक्ति और सूक्ष्मार्थकी दृष्टिसे उनमें भेद है। कोई भी निश्चित या सिद्ध मत सिद्धान्त कहा जा सकता है, किंतु आगम वही सिद्धान्त कहलाता है जो आप्तवाक्य है और पूर्व-परम्परासे आया है[६]। इस प्रकार सभी आगमको सिद्धान्त कह सकते है किंतु सभी सिद्धान्त आगम नहीं कहला सकते। सिद्धान्त सामान्य संज्ञा है और आगम विशेष।

ग्रंथ नाम

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

इस विवेचनके अनुसार प्रस्तुत ग्रंथ पूर्णरूपसे **आगम सिद्धान्त** ही है। धरसेनाचार्यने पुष्पदन्त और भूतबलिको वे ही सिद्धान्त सिखाये जो उन्हे उनसे **पूर्ववर्ती आचार्योंद्वारा** प्राप्त हुए और जिनकी परंपरा महावीरस्वामीतक पहुँचती है। पुष्पदन्त और भूतबलिने भी उन्हीं आगम सिद्धान्तोंको पुस्तकारूढ किया और टीकाकारने भी उनका विवेचन पूर्व मान्यताओं और

१ तदो एयं **खंडसिद्धंतं** पडुच्च भूदबलि-पुप्फयंताइरिया वि कत्तारो उच्चंति। (पृ. ७१)
इदं पुण **जीवट्ठाणं खंडसिद्धंतं** पडुच्च पुव्वाणुपुव्वीए ट्ठिदं **छण्हं खंडाणं** पढमखंडं जीवट्ठाणमिदि। (पृ. ७४)

२ आगमो सिद्धंतो पवयणमिदि एयट्ठो। (पृ. २०.) आगमः सिद्धान्तः। (पृ. २९.)
कृतान्तागम-सिद्धान्त-ग्रंथाः शास्त्रमतः परम् ॥ (धनंजय-नाममाला ४)

३ ण उ बुज्झिउ आयमु सद्धामु। सिद्धंतु धवलु जयधवलु णाम ॥ (महापु. १, ९, ८.)

४ एवं विंशतिसंख्या गुणस्थानादयः प्ररूपणाः भगवदर्हद्गणधरशिष्य-प्रशिष्यादिगुरुपर्वागतया परिपाट्या अनुक्रमेण भणिताः **परमागमे** पूर्वाचार्यैः प्रतिपादिताः (गो. जी. टी. २१.) परमागमे निगोद-जीवानां द्वैविध्यस्य सुप्रसिद्धत्वात्। (गो. जी. टी. ४४२.)

५ **षट्खंडागम**रचनाभिप्रायं पुष्पदन्तगुरोः ॥१३७॥ **षट्खंडागम**रचनां प्रविधाय भूतबल्यार्यः ॥१३८॥ **षट्खंडागम**पुस्तकमहो मया चिंतितं कार्यम् ॥ १४६ ॥ एवं **षट्खंडागम**सूत्रोत्पत्ति प्ररूप्य पुनरधुना ॥ १४९ ॥ **षट्खंडागम**गत-खंड-पंचकस्य पुनः ॥ १६८ ॥ इन्द्र. श्रुतावतार.

६ राद्ध-सिद्ध-कृतेभ्योऽन्त आप्तोक्तिः **समयागमौ** (हैम. २, १५६.) पूर्वापरविरुद्धादेर्व्यपेतो दोषसंहतेः। द्योतकः सर्वभावानामाप्तव्याहृतिरागमः। (धवला अ. ७१६)

पूर्व आचार्योंके उपदेशोंके अनुसार ही किया है जैसा कि उनकी टीकामें स्थान स्थानपर प्रकट है[1]। आगमकी यह भी विशेषता है कि उसमें हेतुवाद नहीं चलता[2], क्योंकि, आगम अनुमान आदिकी अपेक्षा नहीं रखता किंतु स्वयं प्रत्यक्षके बराबरका प्रमाण माना जाता है[3]।

पुष्पदन्त व भूतबलिकी रचना तथा उस पर वीरसेनकी टीका इसी पूर्व परम्पराकी मर्यादाको लिये हुए है इसीलिये इन्द्रनन्दिने उसे आगम कहा है और हमने भी इसी सार्थकताको मान देकर इन्द्रनन्दिद्वारा निर्दिष्ट नाम **षट्खंडागम** स्वीकार किया है।

जीवट्ठाण

षट्खंडोंमें प्रथम खंडका नाम '**जीवट्ठाण**' है। उसके अन्तर्गत १ सत्, २ संख्या, ३ क्षेत्र, ४ स्पर्शन, ५ काल, ६ अन्तर, ७ भाव और ८ अल्पबहुत्व, ये आठ अनुयोगद्वार, तथा १ प्रकृति समुत्कीर्तना, २ स्थानसमुत्कीर्तना, ३-५ तीन महादण्डक, ६ जघन्य स्थिति, ७ उत्कृष्ट स्थिति, ८ सम्यक्त्वोत्पत्ति और ९ गति-आगति ये नौ चूलिकाएं हैं। इस खंडका परिमाण धवलाकारने **अठारह हजार पद** कहा है (पृ. ६०)। पूर्वोक्त आठ अनुयोगद्वार और नौ चूलिकाओंमें गुणस्थान और मार्गणाओंका आश्रय लेकर यहां विस्तारसे वर्णन किया गया है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

२ खुद्दाबंध

दूसरा खंड **खुद्दाबंध** (क्षुल्लकबंध) है। इसके ग्यारह अधिकार हैं, १ स्वामित्व, २ काल, ३ अन्तर, ४ भंगविचय, ५ द्रव्यप्रमाणानुगम, ६ क्षेत्रानुगम, ७ स्पर्शनानुगम, ८ नाना-जीव-काल, ९ नाना-जीव-अन्तर, १० भागाभागानुगम और ११ अल्पबहुत्वानुगम। इस खंडमें इन ग्यारह प्ररूपणाओंद्वारा कर्मबन्ध करनेवाले जीवका कर्मबन्धके भेदोंसहित वर्णन किया गया है।

यह खंड अ. प्रतिके ४७५ पत्रसे प्रारम्भ होकर ५७६ पत्रपर समाप्त हुआ है।

३ बंधस्वामित्व-विचय

तीसरे खंडका नाम **बंधस्वामित्वविचय** है। कितनी प्रकृतियोंका किस जीवके कहां तक बंध होता है, किसके नहीं होता है, कितनी प्रकृतियोंकी किस गुणस्थानमें व्युच्छित्ति होती है, स्वोदय बंधरूप प्रकृतियां कितनी हैं और परोदय बंधरूप कितनी हैं, इत्यादि कर्मबंधसंबन्धी विषयोंका बंधक जीवकी अपेक्षासे इस खंडमें वर्णन है।

---

१ '**भूयसामाचार्याणामुपदेशाद्वा तदवगतेः**' (१९७) 'किमित्यागमे तत्र तस्य सत्त्वं नोक्तमिति चेन्न, **आगमस्यातर्कगोचरत्वात्**' (२०६) '**जिणा ण अण्णहावाइणो**' (२२१) '**आइरियपरंपराए** णिरंतरमागयाणं आइरिएहि पोत्थेसु चढावियाणं असुत्तत्तणविरोहादो' (२२१) '**प्रतिपादकार्षोपलंभात्**' (२२९) '**आर्षात्तदवगतेः**' (२५८) 'प्रवाहरूपेणापौरुषेयत्वतस्तीर्थकृदादयोऽस्य व्याख्यातार एव न कर्तारः' (३४९)

२ 'किमित्यागमे तत्र तस्य तत्त्वं नोक्तमिति चेन्न, **आगमस्यातर्कगोचरत्वात्** (२०६)

३ सुदकेवलं च णाणं दोण्णि वि सरिमाणि होंति बोहादो। सुदणाणं तु परोक्खं पचक्खं केवलं णाणं॥ गो. जी. ३६९.

यह खंड अ. प्रतिके ५७६ वें पत्रसे प्रारम्भ होकर ६६७ वें पत्र पर समाप्त हुआ है। चौथे खंडका नाम **वेदना** है। इसके आदिमें पुनः मंगलाचरण किया गया है। इसी खंडके

४ वेदना

अन्तर्गत **कृति** और **वेदना** अनुयोगद्वार हैं। किंतु वेदनाके कथनकी प्रधानता और अधिक विस्तारके कारण इस खंडका नाम वेदना रक्खा गया है[1]।

कृतिमें औदारिकादि पांच शरीरोंकी संघातन और परिशातनरूप कृतिका तथा भवके प्रथम और अप्रथम समयमें स्थित जीवोंके कृति, नोकृति और अवक्तव्यरूप संख्याओंका वर्णन है। १ नाम, २ स्थापना, ३ द्रव्य, ४ गणना, ५ ग्रंथ, ६ कारण और ७ भाव, ये कृतिके सात प्रकार हैं, जिनमेंसे प्रकृतमें गणनाकृति मुख्य बतलाई गई है।

वेदनामें १ निक्षेप, २ नय, ३ नाम, ४ द्रव्य, ५ क्षेत्र, ६ काल, ७ भाव, ८ प्रत्यय, ९ स्वामित्व, १० वेदना, ११ गति, १२ अनन्तर, १३ सन्निकर्ष, १४ परिमाण, १५ भागाभागानुगम और १६ अल्पबहुत्वानुगम, इन सोलह अधिकारोंके द्वारा वेदनाका वर्णन है।

इस खंडका परिमाण **सोलह हजार पद** बतलाया गया है। यह समस्त खंड अ. प्रतिके ६६७ वें पत्रसे प्रारम्भ होकर ११०६ वें पत्रपर समाप्त हुआ है, जहां कहा गया है—

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

एवं वेयण-अप्पाबहुगाणिओगद्दारे समत्ते वेयणाखंडं समत्ता (खंडो समत्तो)।

पांचवें खंडका नाम **वर्गणा** है। इसी खंडमें बंधनीयके अन्तर्गत वर्गणा अधिकारके

५ वर्गणा

अतिरिक्त स्पर्श, कर्म, प्रकृति और बन्धनका पहला भेद बंध, इन अनुयोगद्वारोंका भी अन्तर्भाव कर लिया गया है।

स्पर्शमें निक्षेप, नय आदि सोलह अधिकारोंद्वारा तेरह प्रकारके स्पर्शोंका वर्णन करके प्रकृतमें कर्म-स्पर्शसे प्रयोजन बतलाया है।

कर्ममें पूर्वोक्त सोलह अधिकारोंद्वारा १ नाम, २ स्थापना, ३ द्रव्य, ४ प्रयोग, ५ समवधान, ६ अधः, ७ ईर्यापथ, ८ तप, ९ क्रिया और १० भाव, इन दश प्रकारके कर्मोंका वर्णन है।

प्रकृतिमें शील और स्वभावको प्रकृतिके पर्यायवाची बताकर उसके नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव, इन चार भेदोंमेंसे कर्म-द्रव्य-प्रकृतिका पूर्वोक्त १६ अधिकारोंद्वारा विस्तारसे वर्णन किया गया है।

इस खंडका प्रधान अधिकार बंधनीय है, जिसमें २३ प्रकारकी वर्गणाओंका वर्णन और उनमेंसे कर्मबन्धके योग्य वर्गणाओंका विस्तारसे कथन किया है।

यह खंड अ. प्रतिके ११०६ वें पत्रसे प्रारम्भ होकर १३३२ वें पत्रपर समाप्त हुआ है और वहां कहा है—

एवं विस्ससोवचय-परूवणाए समत्ताए **बाहिरिय-वग्गणा** समत्ता होदि।

---

१ कदि-पास-कम्म-पयडि-अणियोगद्दाराणि वि एत्थ परूविदाणि, तेसिं खंडगंथसण्णमकाऊण तिण्णि चेव खंडाणि त्ति किमट्ठं उच्चदे ? ण, तेसिं पहाणत्ताभावादो। तं पि कुदो णव्वदे ? **संखेवेण परूवणादो।**

इन्द्रनन्दिने श्रुतावतारमें कहा है कि भूतबलिने पांच खंडोंके पुष्पदन्त विरचित

६ महाबंध

सूत्रोंसहित छह हजार सूत्र रचनेके पश्चात् **महाबंध** नामके छठवें खंडकी तीस हजार श्लोक प्रमाण रचना की[1]।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

धवलामें जहां वर्गणाखंड समाप्त हुआ है वहां सूचना की गई है कि–

'जं तं बंधविहाणं तं चउव्विहं, पयडिबंधो ट्ठिदिबंधो अनुभागबंधो पदेसबंधो चेदि। एदेसिं चदुण्हं बंधाणं विहाणं भूदबलि-भडारएण **महाबंधे** सप्पवंचेण लिहिदं ति अम्हेहि एत्थ ण लिहिदं। तदो सयले महाबंधे एत्थ परूविदे बंधविहाणं समप्पदि'। (धवला. क. १२५९-१२६०)

अर्थात् बंधविधान चार प्रकारका है– प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, अनुभागबंध और प्रदेशबंध। इन चारों प्रकारके बंधोंका विधान भूतबलि भट्टारकने महाबंधमें सविस्तररूपसे लिखा है, इस कारण हमने (वीरसेनाचार्यने) उसे यहां नहीं लिखा। इस प्रकारसे समस्त महाबंधके यहां प्ररूपण हो जानेपर बंधविधान समाप्त होता है।

ऐसा ही एक उल्लेख जयधवलामें भी पाया जाता है जहां कहा गया है कि, प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश बंधका वर्णन विस्तारसे **महाबंधमें** प्ररूपित है और उसे वहांसे देख लेना चाहिये, क्योंकि, जो बात प्रकाशित हो चुकी है उसे पुनः प्रकाशित करनेमें कोई फल नहीं। यथा—

सो पुण पयडिट्ठिदिअणुभागपदेसबंधो **बहुसो परूविदो** (चूर्णिसूत्र)। सो उण गाहाए पुव्वद्धम्मि णिलीणो पयडि-ट्ठिदि-अणुभाग-पदेस-विसओ बंधो बहुसो गंथंतरेसु परूविदो त्ति तत्थेव वित्थरो दट्ठव्वो, ण एत्थ पुणे परूविज्जदे, पयासियपयासणे फलविसेसाणुवलंभादो। तदो **महाबंधाणुसारेणेत्थ** पयडि-ट्ठिद-अणुभाग-पदेसबंधेसु **विहासियसमत्तेसु** तदो बंधो समत्तो होई। जयध. अ. ५४८

इससे इन्द्रनन्दिके कथन की पुष्टि होती है कि छठवां खंड स्वयं भूतबलि आचार्यद्वारा रचित सविस्तर पुस्तकारूढ है।

किंतु इन्द्रनन्दिने श्रुतावतारमें आगे चलकर कहा है कि वीरसेनाचार्यने एलाचार्यसे

सत्कर्म-पाहुड

सिद्धान्त सीखनेके अनन्तर निबन्धनादि अठारह अधिकारोंद्वारा **सत्कर्म** नामक छठवें खंडका संक्षेपसे विधान किया और इस प्रकार छहों खंडोंकी बहत्तर हजार ग्रंथप्रमाण धवला टीका रची गई। (देखो ऊपर पृ. ३८)

धवलामें वर्गणाखंडकी समाप्ति तथा उपर्युक्त भूतबलिकृत महाबंधकी सूचनाके पश्चात् निबंधन, प्रक्रम, उपक्रम, उदय, मोक्ष, संक्रम, लेश्या, लेश्याकर्म, लेश्यापरिणाम सातासात, दीर्घ-

---

१ तेन ततः परिपठितां **भूतबलिः** सत्प्ररूपणां श्रुत्वा। षट्खंडागमरचनाभिप्रायं पुष्पदन्तगुरोः॥१३७
विज्ञायाल्पायुष्यानल्पमतीन्मानवान् प्रतीत्य ततः। द्रव्यप्ररूपणाद्यधिकारः खंडपंचकस्यान्वक्॥१३८
सूत्राणि षट्सहस्रग्रंथान्यथ पूर्वसूत्रसहितानि। प्रविरच्य महाबंधाह्वयं ततः षष्ठकं खंडम्॥१३९
त्रिंशत्सहस्रसूत्रग्रंथं व्यरचयदसौ महात्मा। इन्द्र, श्रुतावतार.

ह्रस्व, भवधारणीय, पुद्गलात्म, निधत्त-अनिधत्त निकाचित-अनिकाचित कर्मस्थिति, पश्चिमस्कंध और अल्पबहुत्व, इन अठारह अनुयोगद्वारोंका कथन किया गया है और इस समस्त भागको **चूलिका** कहा है। यथा—

एत्तो उवरिम-गंथो **चूलिया** णाम।

इन्द्रनन्दिके उपर्युक्त कथनानुसार यही चूलिका संक्षेपसे छठवां खंड ठहरता है, और इसका नाम **सत्कर्म** प्रतीत होता है, तथा इसके सहित धवला षट्खंडागम ७२ हजार श्लोक प्रमाण सिद्ध होता है। **विबुध श्रीधरके** मतानुसार वीरसेनकृत ७२ हजार प्रमाण समस्त धवला टीकाका ही नाम सत्कर्म है। यथा—

अत्रान्तरे एलाचार्यभट्टारकपार्श्वे सिन्द्धातद्वयं वीरसेननामा मुनिः पठित्वाऽपराण्यपि अष्टादशाधिकाराणि प्राप्य पंच-खंडे षट्-खंडे संकल्प्य संस्कृतप्राकृतभाषया **सत्कर्म**नामटीकां द्वासप्ततिसहस्त्रप्रमितां **धवल**नामांकितां लिखाप्य विंशतिसहस्त्रकर्मप्राभृतं विचार्य वीरसेनो मुनिः स्वर्गं यास्यति। (विबुध श्रीधर. श्रुतावतार मा. ग्रं. मा. २१, पृ. ३१८)

दुर्भाग्यतः महाबंध (महाधवल) हमें उपलब्ध नहीं है, इस कारण महाबंध और सत्कर्म नामोंकी इस उलझनको सुलझाना कठिन प्रतीत होता है। किन्तु मूडबिद्रीमें सुरक्षित महाधवलका जो थोडासा परिचय उपलब्ध हुआ है उससे ज्ञात होता है कि वह ग्रंथ भी **सत्कर्म** नामसे है और उसपर एक पंचिकारूप विवरण है जिसके आदिमें ही कहा गया है—

'वोच्छामि **संतकम्मे** पंचियरूवेण विवरणं सुमहत्थं। .... चोव्वीसमणियोगद्दारेसु तत्थ कदिवेदणा त्ति जाणि अणियोगद्दाराणि **वेदणाखंड**म्हि पुणो फास (कम्म-पयडि-बंधणाणि) चत्तारि अणियोगद्दारेसु तत्थ बंध-बंधणिज्जणामणियोगेहि सह **वग्गणाखंडम्हि**, पुणो बंध-विधाणणामाणियोगो[1] **खुद्दाबंधम्हि** सप्पवंचेण परूविदाणि। तो वि तस्सइगंभीरत्तादो अत्थ-विसम पदाणमत्थे थोरुद्धयेण (?) पंचियसरूवेण भणिस्सामो। (वीरवाणी सि. भ. रिपोर्ट, १९३५)

इसका भावार्थ यह है कि महाकर्मप्रकृति पाहुडके चौवीस अनुयोगद्वारोंमेंसे **कृति** और **वेदना**का वेदना खंडमें, **स्पर्श, कर्म, प्रकृति** और बंधनके **बंध** और **बंधनीय**का वर्गणाखंडमें और **बंधविधान**[1] नामक अणुयोगद्वारका **खुद्दाबंधमें** विस्तारसे वर्णन किया जा चुका हैं। इनसे शेष अठारह अनुयोगद्वार सब **सत्कर्म**में प्ररूपित किये गये हैं। तो भी उनके अतिगंभीर होनेसे उसके विषय पदोंका अर्थ संक्षेपमें पंचिकारूपसे यहां कहा जाता है।

इससे जान पडा कि महाधवलका मूलग्रंथ संतकम्म (सत्कर्म) नामका है और उसमें महाकर्मप्रकृतिपाहुडके चौवीस अनुयोगद्वारोंमेंसे वेदना और वर्गणाखंडमें वर्णित प्रथम छहको छोडकर शेष निबंधनादि अठारह अनुयोगद्वारोंका प्ररूपण है।

---

१ यहां पाठमें कुछ त्रुटि जान पडती है, क्योंकि, धवलाके अनुसार खुद्दाबंधमें बंधकका वर्णन है और बंधविधान महाबंधका विषय है।

महाधवल या सत्कर्मकी उक्त पंचिका कबकी और किसकी है ? संभवतः यह वही पंचिका है जिसको इन्द्रनन्दिने समन्तभद्रसे भी पूर्व तुम्बुलूराचार्यद्वारा सात हजार श्लोक प्रमाण विरचित कहा है। (देखो ऊपर पृ. ४९)

किंतु जयधवलामें एक स्थानपर स्पष्ट कहा गया है कि सत्कर्म महाधिकारमें कृति, वेदनादि चौवीस अनुयोगद्वार प्रतिबद्ध हैं और उनमें उदय नामक अर्थाधिकार प्रकृति सहित
मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज
स्थिति, अनुभाग और प्रदेशोंके अनुत्कृष्ट, उत्कृष्ट, जघन्य व अजघन्य उदयके प्ररूपणमें व्यापार करता है। यथा---

संतकम्ममहाहियारे कदि-वेदणादि-चउवीसमणियोगद्दारेसु पडिबद्धेसु उदओ णाम अत्थाहियारो ट्ठिदि-अणुभाग-पदेसाणं पयडिसमण्णियाणमुक्कस्साणुक्कस्स-जहण्णाजहण्णुदयपरूवणे य वावारो। जयध. अ. ५१२.

इससे जाना जाता है कि कृति, वेदनादि चौवीस अनुयोगद्वारोंका ही समष्टिरूपसे सत्कर्म महाधिकार नाम है और चूंकि ये चौवीस अधिकार तीसरे अर्थात् बंधस्वामित्वविचयके पश्चात् क्रमसे वर्णन किये गये हैं, अतः उस समस्त विभाग अर्थात् अन्तिम तीन खंडोंका नाम **संतकम्म** या **सत्कर्मपाहुड** महाधिकार है।

किन्तु, जैसा आगे चलकर ज्ञात होगा, इन्हीं चौवीस अनुयोगद्वारोंसे जीवट्ठाणके थोडेसे भागको छोडकर शेष समस्त षट्खंडागमकी उत्पत्ति हुई है। अतः जयधवलाके उल्लेखपरसे इस समस्त ग्रंथका नाम भी **सत्कर्म** महाधिकार सिद्ध होता है। इस अनुमानकी पुष्टि प्रस्तुत ग्रंथके दो उल्लेखोंसे अच्छी तरह हो जाती है। पृ. २१७ पर कषायपाहुड और सत्कर्मपाहुडके उपदेशमें मतभेदका उल्लेख किया गया है। यथा---

'एसो **संतकम्म-पाहुड**-उवएसो। **कसायपाहुड**-उवएसो पुण........'

आगे चलकर पृष्ठ २२१ पर शंका की गई कि इनमेंसे एक वचन सूत्र और दूसरा असूत्र होना चाहिये और यह संभव भी है, क्योंकि, ये जिनेन्द्र वचन नहीं हैं किन्तु आचार्योंके वचन हैं। इसका समाधान किया गया है कि नहीं, सत्कर्म और कषायपाहुड दोनों ही सूत्र हैं, क्योंकि, उनमें तीर्थंकरद्वारा कथित, गणधरद्वारा रचित तथा आचार्यपरंपरासे आगत अर्थका ही ग्रंथन किया गया है। यथा---

'आइरियकहियाणं **संतकम्म-कसाय-पाहुडाणं** कथं सुत्तत्तणमिदि चे ण........ (पृ. २२१)

यहां स्पष्टतः कषाय पाहुड के साथ सत्कर्मपाहुडसे प्रस्तुत समस्त षट्खंडागमसे ही प्रयोजन हो सकता है और यह ठीक भी है, क्योंकि, पूर्वोंकी रचनामें उक्त चौवीस अनुयोग-

द्वारोंका नाम **महाकर्मप्रकृतिपाहुड** है। उसीका धरसेन गुरुने पुष्पदन्त भूतबलि द्वारा उद्धार कराया है, जैसा कि जीवट्ठाणके अन्त व खुद्दाबंधके आदिकी एक गाथासे प्रकट होता है--

जयउ **धरसेणणाहो** जेण **महाकम्मपयडिपाहुडसेलो**।
बुद्धिसिरेणुद्धरिओ समप्पिओ पुप्फयंतस्स ॥ (धवला अ. ४७५)

महाकर्मप्रकृति और सत्कर्म संज्ञाएं एक ही अर्थकी द्योतक हैं। अतः सिद्ध होता है कि इस समस्त **षट्खंडागमका** नाम **सत्कर्मप्राभृत** है। और चूंकि इसका बहुभाग धवला टीकामें ग्रथित है, अतः समस्त **धवलाको** भी **सत्कर्मप्राभृत** कहना अनुचित नहीं। उसी प्रकार महाबंध या निबंधनादि अठारह अधिकार भी इसीके एक खंड होनेसे सत्कर्म कहे जा सकते है। और जिस प्रकार खंड विभागकी दृष्टिसे कृतिका वेदनाखंडमें स्पर्श, कर्म, प्रकृति तथा बंधनके प्रथम भेद बंधका वर्गणाखंडमें अन्तर्भाव कर लिया गया है, उसी प्रकार निबन्धनादि अठारह अधिकारोंका महाबंध नामक खंडमें अंतर्भाव अनुमान किया जा सकता है जिससे महाधवलान्तर्गत उक्त पंचिकाके कथनकी सार्थकता सिद्ध हो जाती है, क्योंकि, सत्कर्मका एक विभाग होनेसे वह भी सत्कर्म कहा जा सकता है।

सत्कर्मप्राभृत षट्खंडागम तथा उसकी टीका धवलाकी इस रचनाको देखनेसे ज्ञात होता है कि उसके मुख्यतः दो विभाग हैं। प्रथम विभागके अन्तर्गत जीवट्ठाण, खुद्दाबंध व बंध-स्वामित्वविचय हैं। इनका मंगलाचरण, श्रुतावतार आदि एक ही बार जीवट्ठाणके आदिमें किया गया है और उन सबका विषय भी जीव या बंधककी मुख्यतासे है। **जीवट्ठाणमें** गुणस्थान और मार्गणाओंकी अपेक्षा सत्, संख्या आदि रूपसे जीवतत्वका विचार किया गया है। **खुद्दाबंधमें** सामान्यकी अपेक्षा बंधक, और **बंधस्वामित्वविचयमें** विशेषकी अपेक्षा बंधकका विवरण है।

दूसरे विभागके आदिमें पुनः मंगलाचरण व श्रुतावतार दिया गया है, और उसमें यथार्थतः कृति, वेदना आदि चौवीस अधिकारोंका क्रमशः वर्णन किया गया है और इस समस्त विभागमें प्रधानतासे कर्मोंकी समस्त दशाओंका विवरण होनेसे उसकी विशेष संज्ञा सत्कर्मप्राभृत है। इन चौवीसोंमेंसे द्वितीय अधिकार **वेदनाका** विस्तारसे वर्णन किये जानेके कारण उसे प्रधानता प्राप्त हो गई और उसके नामसे चौथा खंड खडा हो गया। बंधनके तीसरे भेद बंधनीयमें वर्गणाओंका विस्तारसे वर्णन आया और उसके महत्वके कारण **वर्गणा** नामका पांचवां खंड हो गया। इसी बंधनके चौथे भेद बंधविधानके खूब विस्तारसे वर्णन किये जानेके कारण उसका **महाबंध** नामक छठवां खंड बन गया और शेष अठारह अधिकार उन्हींके आजूबाजूकी वस्तु रह गये।

धवलाकी रचनाके पश्चात् उसके सबसे बडे पारगामी विद्वान् नेमिचंद्र सिद्धान्तचक्रवर्तीने इन दो ही विभागोंको ध्यानमें रखकर जीवकाण्ड और कर्मकाण्डकी रचना की, ऐसा प्रतीत

होता है। तथा उसके छहों खंडोंका ख्याल करके उन्होंने गर्वके साथ कहा है कि 'जिस प्रकार एक चक्रवर्ती अपने चक्रके द्वारा छह खंड पृथिवीको निर्विघ्नरूपसे अपने वशमें कर लेता है, उसी प्रकार अपने मतिरूपी चक्रद्वारा मैंने छह खंड सिद्धान्तका सम्यक् प्रकारसे साधन कर लिया '—

> जह चक्केण य चक्की **छक्खंडं** साहियं अविग्घेण ।
> तह मइचक्केण मया **छक्खंडं** साहियं सम्मं ॥ ३९७ ॥ गो. क.

इससे आचार्य नेमिचंद्रको सिद्धान्तचक्रवर्तीका [illegible] सिद्धान्तके ज्ञाताको इस पदवीसे विभूषित करनेकी प्रथा चल पडी। जो इसके केवल प्रथम तीन खंडोंमें पारंगत होते थे, उन्हें ही जान पडता है, **त्रैविद्यदेव**का पद दिया जाता था। श्रवणबेलगोलाके शिलालेखोंमें अनेक मुनियोंके नाम इन पदवियोंसे अलंकृत पाये जाते हैं। इन उपाधियोंने बीरसेनसे पूर्वकी सूत्राचार्य, उच्चारणाचार्य, व्याख्यानाचार्य, निक्षेपाचार्य और महावाचककी पदवियोंका सर्वथा स्थान ले लिया। किंतु थोडे ही कालमें गोम्मटसारने इन सिद्धान्तोंका भी स्थान ले लिया और उनका पठन-पाठन सर्वथा रुक गया। आज कई शताब्दियोंके पश्चात् इनके सुप्रचारका पुनः सुअवसर मिल रहा है।

दिगम्बर सम्प्रदायकी मान्यतानुसार षट्खंडागम और कषायप्राभृत ही ऐसे ग्रंथ हैं जिनका सीधा सम्बंध महावीरस्वामीकी द्वादशांग वाणीसे माना जाता है। शेष सब श्रुतज्ञान

षट्खंडागमका द्वादशांगसे सम्बंध

इससे पूर्व ही क्रमशः लुप्त व छिन्न भिन्न हो गया। द्वादशांग श्रुतका प्रस्तुत ग्रंथमें विस्तारसे परिचय कराया गया है (पृ. ९१ से)। इनमेंसे बारहवें अंगको छोडकर शेष सब ही नामोंके अंग-ग्रंथ श्वेताम्बर सम्प्रदायमें जब भी पाये जाते हैं। इन ग्रंथोंकी परम्परा क्या है और उनका विषय विस्तारादि दिगम्बर मान्यताके कहांतक अनुकूल प्रतिकूल है इसका विवेचन आगेके किसी खंडमें किया जायगा, यहां केवल यह बात ज्ञान देने योग्य है कि जो ग्यारह अंग श्वेताम्बर साहित्यमें हैं वे दिगम्बर साहित्यमें नहीं हैं और जिस बारहवें अंगका श्वेताम्बर साहित्यमें सर्वथा अभाव है वही दृष्टिवाद नामक बारहवां अंग प्रस्तुत सिद्धान्त ग्रन्थोंका उद्गमस्थान है।

बारहवें दृष्टिवादके अन्तर्गत परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, **पूर्वगत** और चूलिका ये पांच प्रभेद हैं। इनमेंसे **पूर्वगत**के चौदह भेदोंमेंके द्वितीय आग्रायणीय पूर्वसे ही जीवट्ठाणका बहुभाग और शेष पांच खंड संपूर्ण निकले हैं जिनका क्रमभेद नीचेके **वंशवृक्षोंसे** स्पष्ट हो जायगा।

१. बारहवें अंग दृष्टिवादके चतुर्थ भेद पूर्वंगतका द्वितीय भेद

आग्रायणीय पूर्व.

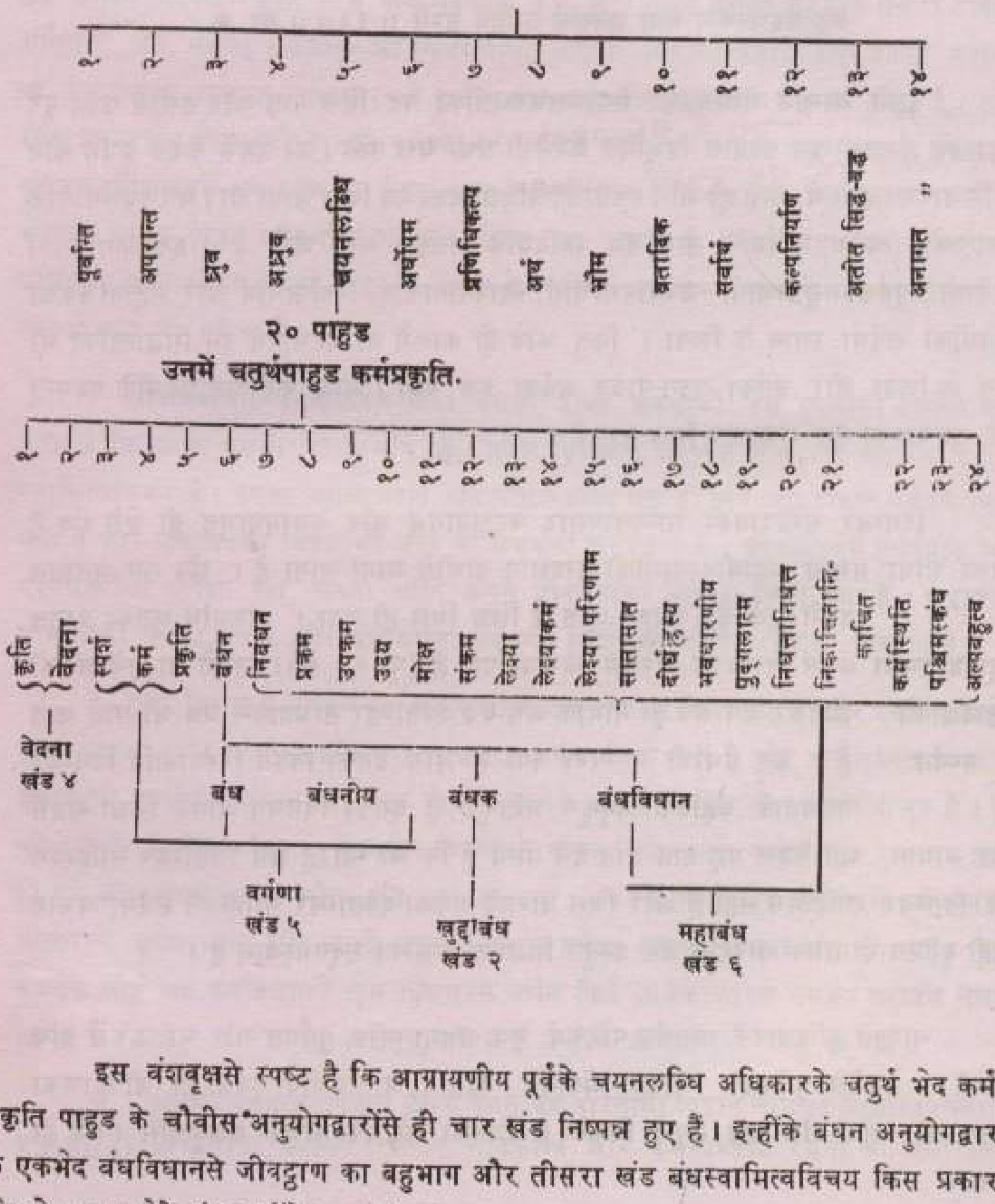

इस वंशवृक्षसे स्पष्ट है कि आग्रायणीय पूर्वके चयनलब्धि अधिकारके चतुर्थ भेद कर्म प्रकृति पाहुड के चौवीस अनुयोगद्वारोंसे ही चार खंड निष्पन्न हुए हैं। इन्हीके बंधन अनुयोगद्वार के एकभेद बंधविधानसे जीवट्ठाण का बहुभाग और तीसरा खंड बंधस्वामित्वविचय किस प्रकार निकले यह आगेके वंश वृक्षोंसे स्पष्ट हो जायगा।

बंधकके ११ अनुयोगद्वारोंमें पांचवा द्रव्यप्रमाणानुगम है। वही जीवट्ठाणकी **संख्या** प्ररूपणाका उद्गमस्थान है।

२ बंधविधान

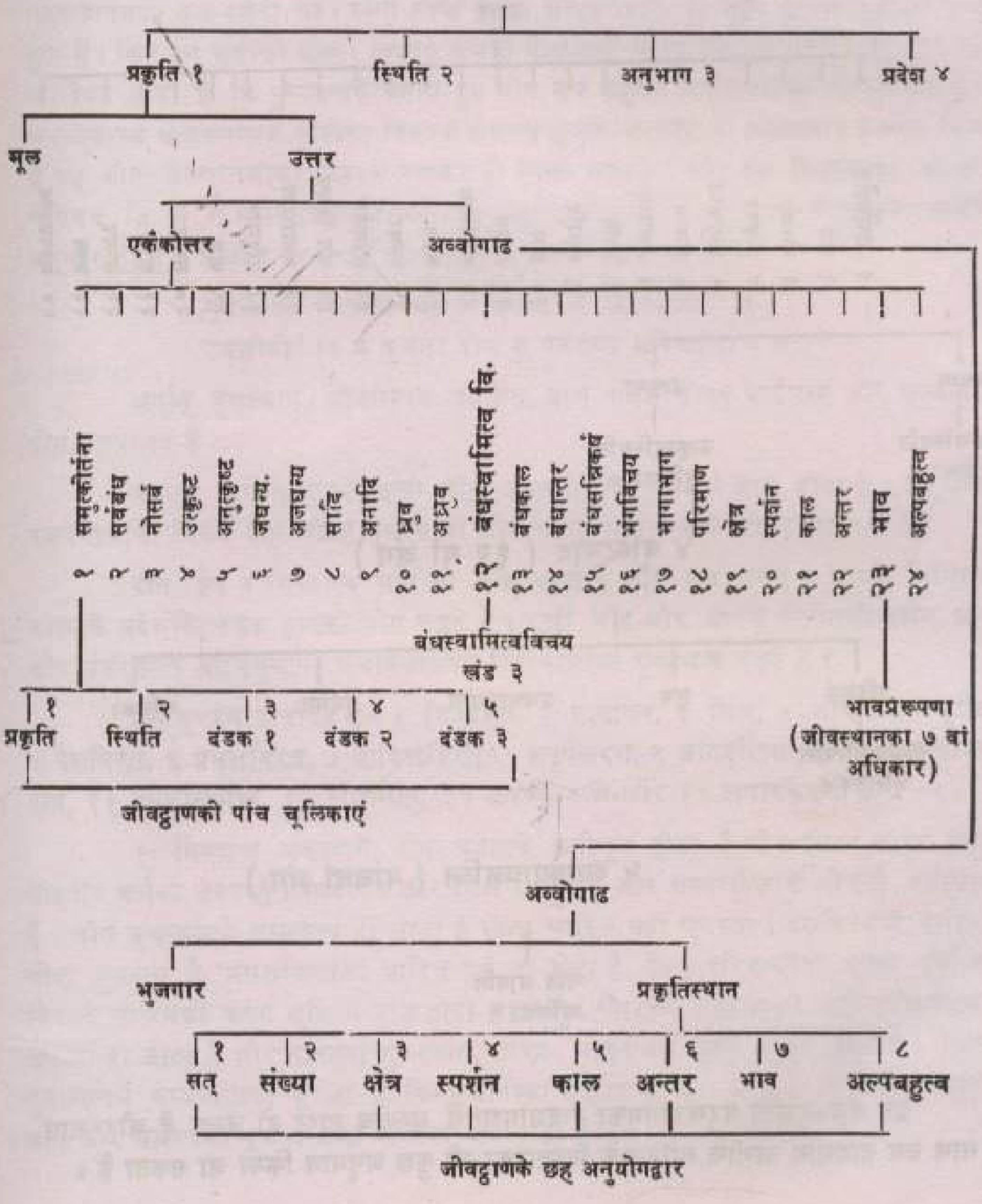

३ बंधविधान

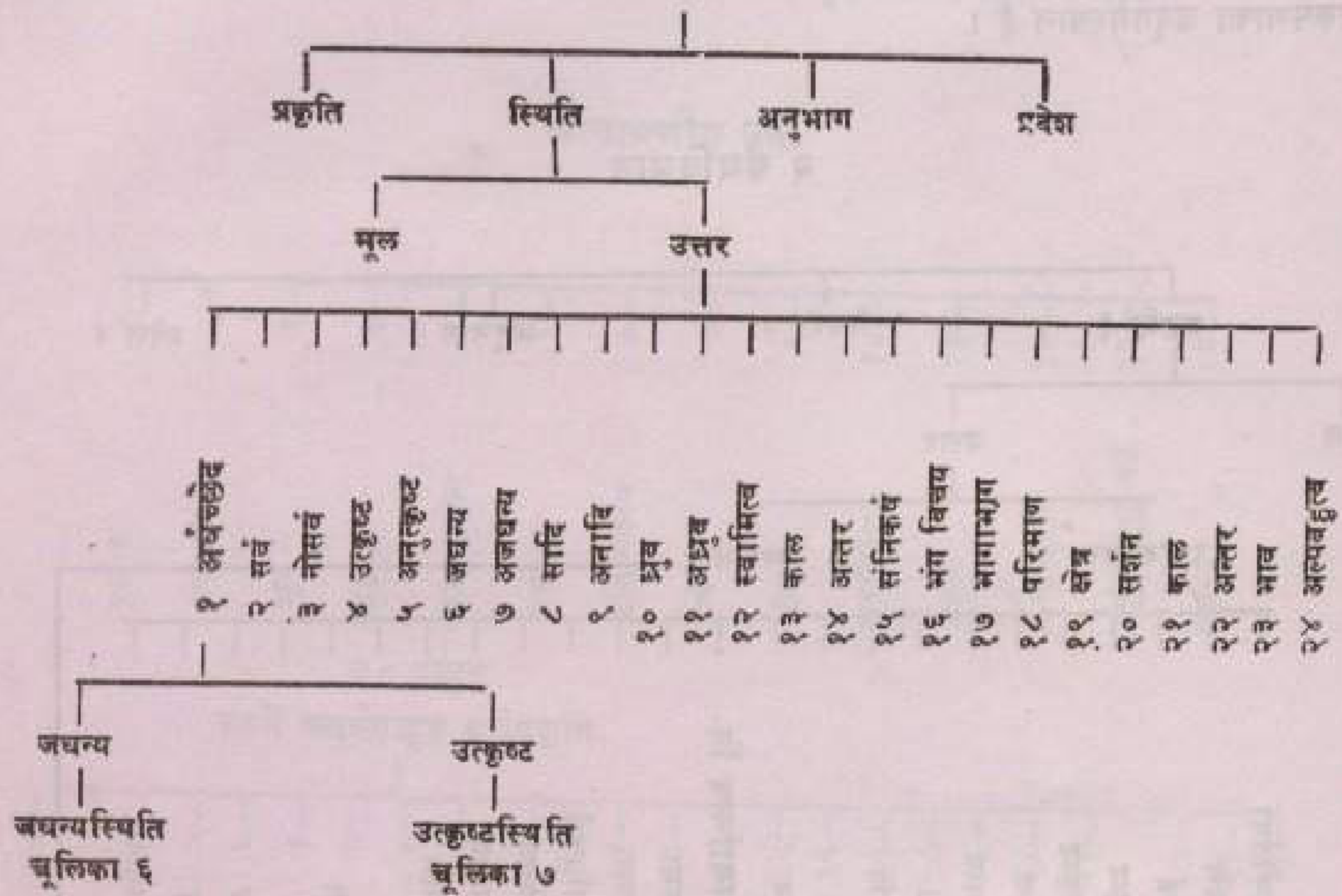

४ दृष्टिवाद (१२ वां अंग)

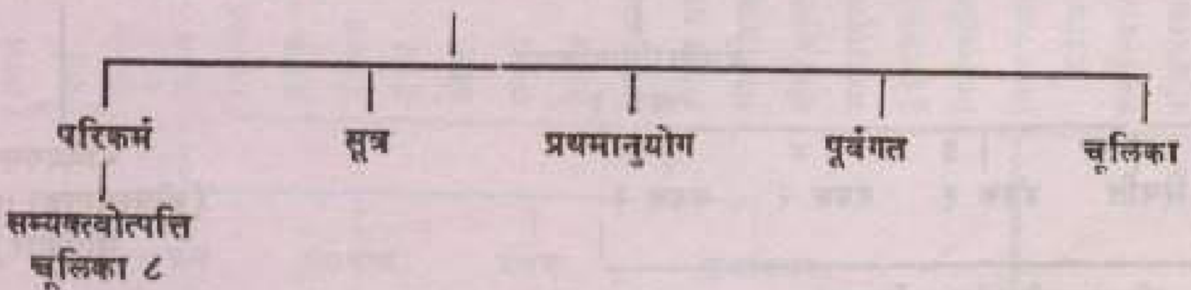

५ व्याख्याप्रज्ञप्ति (पांचवां अंग)

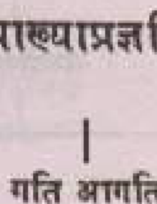

इन वंश–वृक्षोंसे षट्खंडागमका द्वादशांगश्रुतसे सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है और साथ ही साथ उस द्वादशांग वाणीके साहित्यके विस्तारका भी कुछ अनुमान किया जा सकता है।

११. सत्प्ररूपणाका विषय

मार्गदर्शक : आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

प्रस्तुत ग्रंथमें ही जीवट्ठाणकी उत्थानिकामें कहा गया है कि धरसेन गुरुसे सिद्धान्त सीखकर पुष्पदन्ताचार्य वनवास देशको गये और वहां उन्होंने 'विंशति' सूत्रोंकी रचना करके और उन्हें जिनपालितको पढाकर भूतबलि आचार्य, जो द्रमिल देशको चले गये थे, के पास भेजा। भूतबलिने उन सूत्रोंको देखा और तत्पश्चात् द्रव्यप्रमाणसे प्रारम्भ करके शेष समस्त षट्खंडागमकी सूत्र-रचना की। इससे स्पष्ट है कि सत्प्ररूपणाके कुल सूत्र पुष्पदन्ताचार्यके बनाये हुए हैं। किंतु उन सूत्रोंकी संख्या विंशति अर्थात् बीस नहीं परन्तु एक सौ सत्तत्तर है। तब प्रश्न उपस्थित होता है कि पुष्पदन्तके बनाये हुए बीस सूत्र कहनेसे धवलाकारका तात्पर्य क्या है? धवलाकारने सत्प्ररूपणाके सूत्रोंका विवरण समाप्त होनेके अनन्तर जो **ओघालाप** प्रकरण लिखा है वह बीस प्ररूपणाओंको ध्यानमें रखकर ही लिखा गया है। और इस सिद्धान्तका जो सार नेमिचंद सि. च. ने गोम्मटसार जीवकाण्डमें संगृहीत किया है वह भी उन बीस प्ररूपणाओंके अनुसार ही है। वे बीस प्ररूपणाएं गोम्मटसारके शब्दोंमें इस प्रकार हैं—

गुणजीवा[1] पज्जती[1] पाणा[1] सण्णा[1] य मग्गणाओ[14] य।
उवओगो[1] वि य कमसो वीसं तु परूवणा भणिया ॥ २ ॥

अर्थात् गुणस्थान, जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा, चौदह मार्गणाएं और उपयोग ये बीस प्ररूपणाएं हैं।

अतएव विंशति सूत्रसे इन्हीं बीस प्ररूपणाओंका तात्पर्य ज्ञात होता है। इन बीसों प्ररूपणाओंका विषय यहां चौदह गुणस्थानों और चौदह मार्गणाओंके भीतर आजाता है।

राग, द्वेष व मिथ्यात्व भावोंको मोह कहते हैं और मन, वचन व कायके निमित्तसे आत्माके प्रदेशोंके चंचल होनेको योग कहते हैं। इन्हीं मोह और योगके निमित्तसे दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूप आत्मगुणोंकी क्रमविकासरूप अवस्थाओंका **गुणस्थान** कहते हैं।

ऐसे गुणस्थान चौदह हैं– १ मिथ्यात्व, २ सासादन, ३ मिश्र, ४ अविरतसम्यग्दृष्टि, ५ देशविरत, ६ प्रमत्तविरत, ७ अप्रमत्तविरत, ८ अपूर्वकरण, ९ अनिवृत्तिकरण, १० सूक्ष्मसाम्पराय, ११ उपशान्तमोह, १२ क्षीणमोह, १३ सयोगकेवली और १४ अयोगकेवली।

१. मिथ्यात्व अवस्थामें जीव अज्ञानके वशीभूत होता है और इसका कारण दर्शन मोहनीय कर्मका उदय है। सासादन और मिश्र मिथ्यात्व और सम्यग्दृष्टि के बीचकी अवस्थाएं हैं। चौथे गुणस्थानमें सम्यकत्व हो जाता है किन्तु चारित्र नहीं सुधरता। देशविरतका चारित्र्य थोडा सुधरता है, प्रमत्तविरतका चारित्र पूर्ण तो होता है, किंतु परिणामोंकी अपेक्षा अप्रमत्तविरतसे चारित्रकी क्रमसे शुद्धि व वृद्धि होती जाती है। ग्यारहवें गुणस्थानमें चारित्रमोहनीयका उपशम हो जाता है और बारहवां गुणस्थान चारित्र मोहनीयके क्षयसे उत्पन्न होता है। तेरहवें गुणस्थानमें सम्यग्ज्ञानकी पूर्णता है किन्तु योगोंका सद्भाव भी है। अन्तिम गुणस्थानमें दर्शन, ज्ञान और चारित्रकी पूर्णता तथा योगोंका अभाव हो जानेसे मोक्ष हो जाता है।

मार्गणा शब्दका अर्थ खोज करना है। अतएव जिन जिन धर्मविशेषोंसे जीवोंकी खोज या अन्वेषण किया जाय उन धर्मविशेषोंको **मार्गणा** कहते हैं। ऐसी मार्गणाएं चौदह हैं–गति, इन्द्रिय काय, योग, वेदकषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञित्व और आहार।

१. **गति** चार प्रकारकी हैं– नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव.

२. **इन्द्रियां** द्रव्य और भावरूप होती हैं और वे पांच प्रकारकी हैं– स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र.

३. एकेन्द्रियसे पांच इन्द्रियों तककी शरीररचनाको **काय** कहते हैं। एकेन्द्रिय जीव स्थावर और शेष त्रस कहलाते हैं।

४. आत्मप्रदेशोंकी चंचलताका नाम **योग** है इसीसे कर्मबंध होता है। योग तीन निमित्तोंसे होता हैं– मन, वचन और काय।

५. पुरुष, स्त्री व नपुंसकरूप भाव व तद्रूप अवयवविशेषको **वेद** कहते हैं।

६. जो आत्माके निर्मलभाव व चारित्रको कषै अर्थात् घात पहुंचावे वह **कषाय** है। उसके क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार भेद हैं।

७. मति, श्रुति, अवधि, मनःपर्यय, केवल, कुमति, कुश्रुति और कुअवधि रूपसे **ज्ञान** आठ प्रकारका होता हैं।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

८. मन व इन्द्रियोंकी वृत्तिके निरोधका नाम **संयम** है और यह संयम हिंसादिक पापोंकी निवृत्तिसे प्रकट होता है। सामायिक छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय, यथाख्यात, संयमासंयम और असंयम, ये संयमके सात भेद हैं।

९. चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवल ये **दर्शनके** चार भेद हैं।

१०. कषायसे अनुरंजित योगोंकी प्रवृत्ति व शरीरके वर्णोंका नाम **लेश्या** है। इसके छह भेद हैं–कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल।

११. जिस शक्तिके निमित्तसे आत्माके दर्शन, ज्ञान और चारित्र गुण प्रगट होते हैं उसे भव्यत्व कहते हैं। तदनुसार जीव भव्य व अभव्य होते हैं।

१२. तत्त्वार्थके श्रद्धानका नाम **सम्यक्त्व** है, और दर्शनमोहके उपशम, क्षयोपशम, क्षायिक, सम्यग्मिथ्यात्व, सासादन व मिथ्यात्वरूप भावोंके अनुसार सम्यक्त्वमार्गणाके छह भेद हो जाते हैं।

१३. मनके द्वारा शिक्षादिके ग्रहण करनेको संज्ञा कहते हैं और ऐसी संज्ञा जिसमें हो वह **संज्ञी** कहलाता है। तदनुसार जीव संज्ञी व असंज्ञी होते हैं।

१४. औदारिक आदि शरीर और पर्याप्तिके ग्रहण करनेको आहार कहते हैं। तदनुसार जीव आहारक और अनाहारक होते हैं।

इन चौदह गुणस्थानों और मार्गणाओंका प्ररूपण करनेवाले सत्प्ररूपणाके अन्तर्गत १७७ सूत्र हैं जिनका विषयक्रम इस प्रकार है। प्रथम सूत्रमें पंचपरमेष्ठीको नमस्कार किया है। आगेके तीन सूत्रोंमें मार्गणाओंका प्रयोजन बतलाया गया है और उनका गति आदि नामनिर्देश किया गया है। ५, ६ और ७ वे सूत्रमें मार्गणाओंके प्ररूपण निमित्त आठ अनुयोगद्वारोंके जाननेकी आवश्यकता बतलाई है और उनके सत्, द्रव्यप्रमाण (संख्या) आदि नामनिर्देश किये हैं। ८ वें सूत्रसे इन अनुयोगद्वारोंमेंसे प्रथम सत् प्ररूपणाका विवरण प्रारम्भ होता है जिसके आदिमेंही ओघ और आदेश अर्थात् सामान्य और विशेष रूपसे विषयका प्रतिपादन करनेकी प्रतिज्ञा करके मिथ्यादृष्टि आदि चौदह गुणस्थानोंका निरूपण किया है जो ९ वें सूत्रसे २३ वें सूत्रतक चला है। २४ वें सूत्रसे विशेष अर्थात् गति आदि मार्गणाओंका विवरण प्रारम्भ हुआ है जो अन्त तक अर्थात् १७७ वें सूत्रतक चलता रहा है। गति मार्गणा ३२ वें सूत्रतक है। यहांपर नरकादि चारों गतियोंके गुणस्थान बतलाकर यह प्रतिपादन किया है कि एकेन्द्रियसे असंज्ञी पंचेन्द्रियतक शुद्ध तिर्यंच होते हैं, संज्ञी मिथ्यादृष्टिसे संयतासंयत गुणस्थानतक मिश्र तिर्यंच होते हैं, और इसी प्रकार मनुष्य भी। देव और नारकी असंयत गुणस्थानतक मिश्र अर्थात् परिणामोंकी अपेक्षा दूसरी तीन गतियोंके जीवोंके साथ समान होते हैं। प्रमत्तसंयतसे आगे शुद्ध मनुष्य होते हैं। ३३ वें सूत्रसे ३८ वें तक इन्द्रिय मार्गणाका कथन है और उससे आगे ४६ वें सूत्र तक कायका और फिर १०० वें सूत्र तक योगका कथन है। इस मार्गणामें योगके साथ पर्याप्ति अपर्याप्तियोंका भी प्ररूपण किया गया है। तत्पश्चात् ११० वें सूत्रतक वेद, ११४ तक कषाय, १२२ तक ज्ञान, १३० तक संयम, १३५ तक दर्शन, १४० तक लेश्या, १४३ तक भव्य, १७१ तक सम्यक्त्व, १७४ तक संज्ञी और फिर १७७ तक आहार मार्गणाका विवरण है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

प्रतियोंमें सूत्रोंका क्रमांक दो कम पाया जाता है, क्योंकि, वहां प्रथम मंगलाचरण व तीसरे सूत्र 'तं जहा' की पृथक गणना नहीं की। किन्तु टीकाकारने स्पष्टतः उनका सूत्ररूपसे व्याख्यान किया है, अतएव हमने उन्हें सूत्र गिना है।

टीकाकारने प्रथम मंगलाचरण सूत्रके व्याख्यानमें इस ग्रंथका मंगल, निमित्त, हेतु परिणाम, नाम और कर्ताका विस्तारसे विवेचन करके दूसरे सूत्रके व्याख्यानमें द्वादशांगका पूरा परिचय कराया है और उसमें द्वादशांग श्रुतसे जीवट्ठाणके भिन्न भिन्न अधिकारोंकी उत्पत्ति बतलाई है। चौथे सूत्रके व्याख्यानमें गति आदि चौदह मार्गणाओंके नामोंकी निरुक्ति और सार्थकता बतलाते हुए उनका सामान्य परिचय करा दिया गया है। उसके पश्चात् विषयका खूब विस्तार सहित न्यायशैलीसे विवेचन किया है। टीकाकारकी शैली सर्वत्र प्रश्न उठाकर उनका समाधान करनेकी रही है। इस प्रकार प्रस्तुत ग्रंथमें कोई छह सौ शंकाएं उठाई गई हैं और उनके समाधान किये गये हैं। उदाहरणों, दृष्टान्तों, युक्तियों और तर्कों द्वारा टीकाकारने विषयको खूब ही छाना है और स्पष्ट किया है, किन्तु ये सब युक्ति और तर्क, जैसा हम ऊपर कह आये है, आगमकी मर्यादाको लिए हुए हैं, और आगम ही यहां सर्वोपरि प्रमाण है। टीकाकारद्वारा व्याख्यात विषयकी गंभीरता, सूक्ष्मता और तुलनात्मक विवेचन हम अगले

खंडमें करेंगे जिसमें सत्प्ररूपणाका आलाप प्रकरण भी पूरा हो जावेगा। तबतक पाठक स्वयं सूत्रकार और टीकाकारके शब्दोंका स्वाध्याय और मनन करनेकी कृपा करें।

१२. ग्रंथकी भाषा

प्रस्तुत ग्रंथ रचनाकी दृष्टिसे तीन भागोंमें बटा हुआ है। प्रथम पुष्पदन्ताचार्यके सूत्र, दूसरे वीरसेनाचार्यकी टीका और तीसरे टीकामें स्थान स्थान पर उद्धृत किये गये प्राचीन गद्य और पद्य। सूत्रोंकी भाषा आदिसे अन्त तक प्राकृत है और इन सूत्रोंकी संख्या है १७७। वीरसेनाचार्यकी टीकाका लगभग तृतीय भाग प्राकृतमें और शेष भाग संस्कृतमें है। उद्धृत पद्योंकी संख्या २२१ है जिनमें १७ संस्कृतमें और शेष सब प्राकृतमें हैं। इससे अनुमान किया जा सकता है कि वीरसेनाचार्यके सन्मुख जो जैन साहित्य उपस्थित था उसका अधिकांश भाग प्राकृतमें ही था। किन्तु उनके समयके लगभग जैन साहित्यमें संस्कृतका प्राधान्य हो गया और उनकी टीकामें जो संस्कृत-प्राकृतका परिमाण पाया जाता है वह प्रायः उन दोनों भाषाओंकी तात्कालिक आपेक्षिक प्रबलताका दोमार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराजऔर संस्कृतका बढा, यहांतक कि आजकल जैनियोंमें प्राकृत भाषाके पठन पाठनकी बहुत ही मन्दता है। दिगम्बर समाजके विद्यालयोंमें तो व्यवस्थित रूपसे प्राकृत पढानेकी सर्वथा व्यवस्था रही ही नहीं। ऐसी अवस्थामें प्रस्तुत ग्रंथका परिचय कराते समय प्राकृत भाषाका परिचय करा देना भी उचित प्रतीत होता है। प्राकृत साहित्यमें प्राकृत भाषा मुख्यतः पांच प्रकारकी पाई जाती है– **मागधी, अर्धमागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री और अपभ्रंश।**

महावीरस्वामीके समयमें अर्थात् आजसे लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व जो भाषा मगध प्रांतमें प्रचलित थी वह **मागधी** कहलाती है। इस भाषाका कोई स्वतंत्र ग्रंथ नहीं पाया जाता। किंतु प्राकृत व्याकरणोंमें इस भाषाका स्वरूप बतलाया गया है और कुछ शिलालेखों और नाटकोंमें इस भाषाके उदाहरण मिलते हैं जिनपर से इस भाषाकी तीन विशेषताएं स्पष्ट समझमें आ जाती हैं–

मागधी

१. **र** के स्थानमें **ल**, जैसे राजा–लाजा, नगर–णगल,

२. **श, ष** और **स**के स्थानपर **श**। जैसे, शम–शम, दासी–दाशी, मनुष–मनुश।

३. संज्ञाओंके कर्ताकारक एकवचन पुल्लिग रूपमें **ए**। जैसे देवः–देवे, नरः–णले,

उदाहरण–

अले कुंभीलआ ! कहेहि, कहिं तुए **एशे** मणिबंधणुक्किणणामहेए **लाअकीलए** अंगुलीअए शमाशादिए। (शकुंतला)

'अरे कुंभीलक ! कह, कहां तूने इस मणिबंध और उत्कीर्ण नाम राजकीय अंगुलीको पाया'।

दूसरे प्रकारकी प्राकृत **अर्धमागधी** इस कारण कहलाई कि उसमें मागधीके आधे लक्षण पाये जाते हैं, क्योंकि, संभवतः वह आधे मगध देशमें प्रचलित थी। इसी भाषामें प्राचीन जैन सूत्रोंकी रचना हुई थी और इसका रूप अब श्वेताम्बरीय सूत्र– ग्रंथोंमें पाया जाता है, इसीलिये डॉ. याकोबीने इसे जैन प्राकृत कहा है। इसमें **ष** और **स** के स्थानपर **श** न होकर सर्वत्र **स** ही पाया जाता है, **र** के स्थानपर **ल** तथा कर्ता कारकमें '**ए**' विकल्पसे होता है, अर्थात् कहीं होता है और कहीं नहीं होता, और अधिकरण कारकका रूप '**ए**' व '**म्मि**' के अतिरिक्त '**अंसि**' लगाकर भी बनाया जाता है।

अर्धमागधी

उदाहरणः–

कोहाइ माणं हणिया य वीरे लोभस्स पासे निरयं महंतं।
तम्हा हि वीरे विरओ वहाओ छिंदेज्ज सोयं लहुभूयगामी ॥ (आचारांग)

मार्गदर्शक :– आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

क्रोधादि व मान का हनन करके महावीरने लोभके महान् पाशको तोड़ डाला। इस प्रकार वीर वधसे विरत होकर भूतगामी शोकका छिन्दन करें।

सुसाणंसि वा सुन्नागारेंसि वा गिरिगुहंसि वा रुक्खमूलम्मि वा। (आचारांग)
श्मशानमें या शून्यागारमें या गिरिगुफामें व वृक्षके मूलमें (साधु निवास करे)

ये मागधीकी प्रवृत्तियां अर्धमागधीमें भी धीरे धीरे कम होती गई हैं।

प्राचीन शूरसेन अर्थात् मथुराके आसपासके प्रदेशकी भाषाका नाम **शौरसेनी** है। वैयाकरणोंने इस भाषाका जैसा स्वरूप बतलाया है वैसा संस्कृत नाटकोंमें कहीं कहीं मिलता है, पर इसका स्वतंत्र साहित्य दिगम्बर जैन ग्रंथोंमें ही पाया जाता है। प्रवचनसारादि कुंदकुंदाचार्यके ग्रंथ इसी प्राकृतमें हैं। कहा जा सकता है कि यह दिगम्बर जैनियोंकी मुख्य प्राचीन साहित्यिक भाषा है। किन्तु इस भाषाका रूप कुछ विशेषताओंको लिये हुए होनेसे उसका वैयाकरणोंकी शौरसेनीसे पृथक् निर्देश करनेके हेतु उसे '**जैन शौरसेनी**' कहनेका रिवाज हो गया है। जैसा कि आगे चलकर बतलाया जायगा, प्रस्तुत ग्रंथकी प्राकृत मुख्यतः यही है।

शौरसेनी

शौरसेनीकी विशेषताएं ये हैं कि उसमें **र** का **ल** क्वचित् ही होता है, तीनों सकारों के स्थानपर **स** ही होता है, और कर्ताकारक पुल्लिग एकवचनमें **ओ** होता है। इसकी अन्य विशेषताएं ये हैं कि शब्दोंके मध्यमें **त** के स्थानपर **द**, **थ** के स्थानपर **ध**, **भ** के स्थानपर कहीं कहीं **ह** और पूर्वकालिक कृदन्तके रूप संस्कृत प्रत्यय, **त्वा** के स्थानपर **त्ता**, **इअ** या **दूण** होता है। जैसे–

सुतः– सुदो; भवति–भोदि या होई; कथम्–कधं; कृत्वा–करित्ता, करिअ, करिदूण; आदि

उदाहरण–

रत्तो बंधदि कम्मं मुच्चदि कम्मेहिं राग-रहिदप्पा ।
एसो बंधसमासो जीवाणं जाण णिच्छयदो ॥ प्रवच. २, ८७.
णो सद्दहंति सोक्खं सुहेसु परमं ति विगद-घादीणं ।
सुणिदूण ते अभव्वा भव्वा वा तं पडिच्छंति ॥ प्रवच. १, ६२.

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अर्थात् आत्मा रागयुक्त होकर कर्म बांधता है तथा रागरहित होकर कर्मोंसे मुक्त होता है । यह जीवोंका बंधसमास है, ऐसा निश्चय जानो ।

घातिया कर्मोंसे रहित (केवली भगवान्) का सुख ही सुखोंमें श्रेष्ठ है, ऐसा सुनकर जो श्रद्धा नहीं करते वे अभव्य हैं और जो भव्य हैं वे उसे मानते हैं ।

महाराष्ट्री प्राकृत प्राचीन महाराष्ट्रकी भाषा है जिसका स्वरूप गाथासप्तशती, सेतुबंध, गउडवह आदि काव्योंमें पाया जाता है । संस्कृत नाटकोंमें जहां प्राकृतका प्रयोग होता है वहां पात्र बातचीत तो शौरसेनीमें करते हैं और गाते महाराष्ट्रीमें हैं, ऐसा विद्वानोंका मत है । इसका उपयोग जैनियोंने भी खूब किया है । पउमचरिअं, समराइच्चकहा, सुरसुंदरीचरिअं, पासणाहचरिअं आदि काव्य और श्वेतांबर आगम सूत्रोंके भाष्य, चूर्णी, टीका, आदिकी भाषा महाराष्ट्री प्राकृत है । पर यहां भी जैनियोंने इधर उधरसे अर्धमागधीकी प्रवृत्तियां लाकर उसपर अपनी छाप लगा दी है, और इस कारण इन ग्रंथोंकी भाषा जैन महाराष्ट्री कहलाती है । जैन महाराष्ट्रीमें सप्तशती व सेतुबंध आदिकी भाषासे विलक्षण आदि ब, द्वित्वमें न और लुप्त वर्णके स्थानपर य श्रुतिका उपयोग हुआ है, जैसा जैन शौरसेनीमें भी होता है । महाराष्ट्रीके विशेष लक्षण जो उसे शौरसेनीसे पृथक् करते हैं, ये हैं कि यहां मध्यवर्ती त का लोप होकर केवल उसका स्वर रह जाता है, किंतु वह द में परिवर्तित नहीं होता । उसी प्रकार थ यहां ध में परिवर्तित न होकर ह में परिवर्तित होता है, और क्रियाका पूर्वकालिक रूप ऊण लगाकर बनाया जाता है । जैन महाराष्ट्रीमें इन विशेषताओंके अतिरिक्त कहीं कहीं र का ल व प्रथमान्त ए आजाता है । जैसे–

महाराष्ट्री

जानाति-जाणइ; कथम्-कहं; भूत्वा-होऊण; आदि ।

उदाहरणार्थ—

सव्वायरेण चलणे गुरुस्स नमिऊण दसरही राया ।
पविसरइ नियम–नयरिं साएयं जण-धणाइण्णं ॥

(पउम. च. ३१, ३८, पृ. १३२.)

अर्थात् सब प्रकारसे गुरुके चरणोंको नमस्कार करके दशरथ राजा जन-धन-परिपूर्ण अपनी नगरी साकेतमें प्रवेश करते हैं ।

क्रमविकासकी दृष्टिसे अपभ्रंश भाषा प्राकृतका सबसे अन्तिम रूप है; उससे आगे फिर प्राकृत वर्तमान हिन्दी, गुजराती, मराठी आदि भाषाओंका रूप धारण कर लेती है। इस

अपभ्रंश

भाषापर भी जैनियों का प्रायः एकछत्र अधिकार रहा है। जितना साहित्य इस भाषाका अभीतक प्रकाशमें आया है उसमेंका कमसे कम तीन चौथाई हिस्सा दिगम्बर जैन साहित्यका है। कुछ विद्वानोंका ऐसा मत है कि जितनी प्राकृत भाषाएँ थी उन सबका विकसित होकर एक एक अपभ्रंश बना। जैसे, मागधी अपभ्रंश, शौरसेनी अपभ्रंश, महाराष्ट्री अपभ्रंश आदि। बौद्ध चर्यापदों व विद्यापतिकी कीर्तिलतामें मागधी अपभ्रंश पाया जाता है। किन्तु विशेष साहित्यिक उन्नति जिस अपभ्रंशकी हुई वह शौरसेनी महाराष्ट्री मिश्रित अपभ्रंश है, जिसे कुछ वैयाकरणोंने **नागर** अपभ्रंश भी कहा है, क्योंकि, किसी समय संभवतः वह नागरिक लोगोंकी बोलचालकी भाषा थी। पुष्पदन्तकृत महापुराण, णायकुमारचरिउ, जसहरचरिउ, तथा अन्य कवियोंके करकंडचरिउ, भविसयत्तकहा, सणकुमारचरिउ, सावयधम्मदोहा, पाहुडदोहा, इसी भाषाके काव्य हैं। इस भाषाको अपभ्रंश नाम वैयाकरणोंने दिया है, क्योंकि वे स्थितिपालक होनेसे भाषाके स्वाभाविक परिवर्तनको विकाश न समझकर विकार समझते थे। पर इस अपमानजनक नामको लेकर भी यह भाषा खूब फली फूली और उसीकी पुत्रियां आज समस्त उत्तर भारतका काजव्यवहार सम्हाले हुए है।

मार्गदर्शक - आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

इस भाषाकी संज्ञा व क्रियाकी रूपरचना अन्य प्राकृतोंसे बहुत कुछ भिन्न हो गई है। उदाहरणार्थ, कर्ता व कर्म कारक एकवचन, उकारान्त होता है जैसे, पुत्रो, पुत्रम्–पुत्तु; पुत्रेण–पुत्तें; पुत्राय, पुत्रात्, पुत्रस्य–पुत्तहु; पुत्रे–पुत्ते, पुत्ति, पुत्तहिं, आदि।

क्रियामें, करोमि–करउं; कुर्वन्ति–करहिं; कुरुथ–करहु, आदि।

इसमें नये नये छन्दोंका प्रादुर्भाव हुआ जो पुरानी संस्कृत व प्राकृतमें नहीं पाये जाते, किंतु जो हिन्दी, गुजराती, मराठी आदि आधुनिक भाषाओंमें सुप्रचलित हुए। अन्त-यमक अर्थात् तुकबंदी इन शब्दोंकी एक बडी विशेषता है। दोहा, चौपाई आदि छन्द यहांसे ही हिन्दीमें आये।

अपभ्रंशका उदाहरण—

सुहु सारउ मणुयत्तणहं तं सुहु धम्मायत्तु।
धम्मु वि रे जिय तं करहि जं अरहंतइं वुत्तु॥

सावयधम्मदोहा ॥ ४॥

अर्थात् सुख मनुष्यत्वका सार है और वह सुख धर्मके आधीन है। रे जीव! वह धर्म कर जो अरहंतका कहा हुआ है।

इन विशेष लक्षणोंके अतिरिक्त स्वर और व्यंजनसम्बंधी कुछ विलक्षणताएं सभी प्राकृतोंमें समानरूपसे पाई जाती हैं। जैसे, स्वरोंमें **ऐ** और **औ**, **ऋ** और **ऌ** का अभाव और उनके स्थान पर क्रमशः **अइ**, **अउ**, अथवा **ए**, **ओ**, तथा **अ** या **इ** का आदेश; मध्यवर्ती

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

व्यंजनोंमें अनेक प्रकारके परिवर्तन व उनका लोप, संयुक्त व्यंजनोंका असंयुक्त या द्वित्वरूप परिवर्तन, पंचमाक्षर ङ, ञ् आदि सबके स्थानपर हलन्त अवस्थामें अनुस्वार व स्वरसहित अवस्थामें ण में परिवर्तन। ये परिवर्तन प्राकृत जितनी पुरानी होगी उतने कम और जितनी अर्वाचीन होगी उतनी अधिक मात्रामें पाये जाते हैं। अपभ्रंश भाषामें ये परिवर्तन अपनी चरम सीमापर पहुंच गये और वहांसे फिर भाषाके रूपमें परिवर्तन हो चला।

इन सब प्राकृतोंमें **प्रस्तुत ग्रंथकी भाषाका** ठीक स्थान क्या है इसके पूर्णतः निर्णय करनेका अभी समय नहीं आया, क्योंकि, समस्त **धवल सिद्धान्त** अमरावतीकी प्रतिके **१४६५** पत्रोंमें समाप्त हुआ है। प्रस्तुत ग्रंथ उसके प्रथम **६५** पत्रोंमात्रका संस्करण है, अतएव यह उसका बाईसवां अंश है। तथा धवला और जयधवलाको मिलाकर वीरसेनकी रचनाका यह केवल चालीसवां अंश बैठेगा। सो भी उपलभ्य एकमात्र प्राचीन प्रतिकी अभी अभी की हुई पांचवीं छठवीं पीढीकी प्रतियोंपरसे तैयार किया गया है और मूल प्रतिके मिलानका सुअवसर भी नहीं मिल सका। ऐसी अवस्थामें इस ग्रंथकी प्राकृत भाषा व व्याकरणके विषयमें कुछ निश्चय करना बड़ा कठिन कार्य है, विशेषतः जब कि प्राकृतोंका भेद बहुत कुछ वर्णविपर्ययके ऊपर अवलम्बित है। तथापि इस ग्रंथके सूक्ष्म अध्ययनादिकी सुविधाके लिये व इसकी भाषाके महत्वपूर्ण प्रश्नकी ओर विद्वानोंका ध्यान आकर्षित करनेके हेतु उसकी भाषाका कुछ स्वरूप बतलाना यहां अनुचित न होगा।

१. प्रस्तुत ग्रंथमें **त** बहुधा **द** में परिवर्तित पाया जाता है, जैसे, **सुत्रोंमें**—गदि–गति; चदु–चतुः; वीदराग–वीतराग; मदि–मति, आदि। **गाथाओंमें**—पव्वद–पर्वत; अदीद-अतीत; तदिय-तृतीय, आदि। **टीकामें**—अवदारो-अवतारः; एदे-एते; पदिद-पतित; चिंतिदं-चिंतितम्; संठिदं-संस्थितम्; गोदम-गौतम, आदि।

किन्तु अनेक स्थानोंपर **त** का लोप भी पाया जाता है, यथा—**सूत्रोंमें**—गइ-गति; चउ–चतुः; वीयराय-वीतराग; जोइसिय-ज्योतिष्क; आदि। **गाथाओंमें**—हेऊ-हेतुः; पयई-प्रकृतिः, आदि। **टीकामें**—सम्मइ–सम्मति; चउव्विह–चतुर्विध; सव्वघाइ–सर्वघाति; आदि।

क्रियाके रूपोंमें भी अधिकतः **ति** या **ते** के स्थानपर **दि** या **दे** पाये जाते हैं। जैसे, (**सूत्रोंमें अत्थि** के सिवाय दूसरी कोई क्रिया नहीं है) **गाथाओंमें**—णयदि-नयति; छिज्जदे-छिद्यते; जाणदि-जानाति; लिपदि-लिम्पति; रोचेदि-रोचते; सद्दहदि-श्रद्दधाति; कुणदि–करोति; आदि। **टीकामें**—कीरदे, कीरदि-क्रियते; खिवदि-क्षिपति; उच्चदि-उच्यते; जाणदि–जानाति; परूवेदि-प्ररूपयति; वददि–वदति; विरुज्झदे-विरुध्यते; आदि।

किन्तु **त** का लोप होकर संयोगी स्वरमात्र शेष रहनेके भी उदाहरण बहुत मिलते हैं यथा—**गाथाओंमें**—होइ, हवइ–भवति; कहेइ–कथयति; वक्खाणइ–व्याख्याति; भमइ–भ्रमति; भण्णइ–भण्यते, आदि। **टीकामें**—कुणइ–करोति; वण्णेइ–वर्णयति; आदि।

२. क्रियाओंके पूर्वकालिक रूपोंके उदाहरण इस प्रकार मिलते हैं– **इय**– छड्डिय–त्यक्त्वा। **त्तु**–कट्टु-कृत्वा। **अ**–अहिगम्म-अधिगम्य। **दूण**–अस्सिदूण-आश्रित्य। **ऊण**–अस्सिऊण,

घट्टूण, मोत्तूण, दाऊण, चिंतिऊण, आदि।

३. मध्यवर्ती **क** के स्थानमें **ग** आदेशके उदाहरण मिलते है। यथा—**सूत्रोंमें**–वेदग–वेदक। **गाथामें**—एगदेस-एकदेश, **टीकामें**–एगत्त-एकत्व; बंधग-बन्धक; अप्पाबहुग–अल्पबहुत्व; आगास-आकाश; 'जाणुग-ज्ञायक; आदि।

किन्तु बहुधा मध्यवर्ती **क** का लोप पाया जाता है। यथा— **सूत्रोंमें**—सांपराइय-साम्परायिक; एइंदिय-एकेन्द्रिय; सामाइय-सामायिक; काइय-कायिक। **गथाओंमें**–तित्थयर–तीर्थंकर; वागरणी-व्याकरणी; पयडि-प्रकृति; संकलण-संकलन; समाइण्ण-समाकीर्ण; अहियार-अधिकार। **टीकामें**–एय-एक; परियम्म-परिकर्म; किदियम्म-कृतिकर्म; वायरण-व्याकरण; भडारएण-भट्टारकेण, आदि।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

४. मध्यवर्ती **क**, **ग**, **च**, **ज**, **त**, **द** और **प** के लोपके तो उदाहरण सर्वत्र पाये ही जाते हैं, किन्तु इनमेंसे कुछके लोप न होनेके भी उदाहरण मिलते हैं। यथा—**ग**—सजोग–सयोग; संजोग-संयोग; चाग-त्याग; जुग-युग; आदि। **त**– वितीद-व्यतीत। **द**–छदुमत्थ-छद्मस्थ बादर-बादर; जुगादि-युगादि; अणुवाद-अनुवाद; वेद, उदार, आदि।

५. **थ** और **ध** के स्थानमें प्रायः **ह** पाया जाता है, किंतु कहीं कहीं **थ** के स्थानमें **ध** और **ध** के स्थानमें **ध** ही पाया जाता है। यथा–पुध-पृथक्: कधं-कथम्; ओधि-अवधि; (सू. १३१) सोधम्म-सौधर्म (सू. १६९); साधारण (सू. ४१); कदिविधो-कतिविधः; (गा. १८) आधार (टी. १९)

६. संज्ञाओंके पंचमी-एकवचनके रूपमें सूत्रोंमें व गाथाओंमें **आ** तथा टीकामें बहुतायतसे **दो** पाया जाता है। यथा– **सूत्रोंमें**–णियमा-नियमात्। **गाथाओंमें**–मोहा-मोहात्। तम्हा-तस्मात्। **टीकामें**—णाणादो, पढमादो, केवलादो, विदियादो, खेत्तदो, कालदो, आदि।

संज्ञाओंके सप्तमी-एकवचनके रूपमें **म्मि** और **म्हि** दोनों पाये जाते हैं। यथा–**सूत्रोंमें**–एकम्मि (३६, ४३, १२९, १४८, १४९) आदि। एक्कम्हि (६३, १२७)। **गाथाओंमें**—**एक्कम्मि**, **लोयम्मि**, पक्खम्हि, मदम्हि, आदि। **टीकामें**–वत्थुम्मि, चइदम्हि, जम्हि, आदि।

दो गाथाओंमें कर्ताकारक एकवचनकी विभक्ति **उ** भी पाई जाती है। जैसे थावरु (१३५) **एक्कु** (१४६) यह स्पष्टतः अपभ्रंश भाषाकी ओर प्रवृत्ति है और उस लक्षणका शक ७३८ से पूर्वके साहित्यमें पाया जाना महत्वपूर्ण है।

७. जहां मध्यवर्ती व्यंजनका लोप हुआ है वहां यदि संयोगी शेष स्वर **अ** अथवा **आ** हो तो बहुधा **य** श्रुति पायी जाती है। जैसे–तित्थयर-तीर्थंकर; पयत्थ-पदार्थ; वेयणा-वेदना; गय-गत; गज; विमग्गया-विमार्गगाः, आहारया-आहारकाः, आदि।

अ के अतिरिक्त '**ओ**' के साथ भी और क्वचित् **ऊ** व **ए** के साथ भी हस्तलिखित प्रतियोंमें **य** श्रुति पाई गई है। किन्तु हेमचन्द्रके नियमका[१] तथा जैन शौरसेनीके अन्यत्र प्रयोगोंका[२]

विचार करके नियमके लिये इन स्वरोंके साथ य श्रुति नहीं रखनेका प्रस्तुत ग्रंथमें प्रयत्न किया गया है। तथापि इसके प्रयोगकी ओर आगे हमारी सूक्ष्मदृष्टि रहेगी। (देखो ऊपर पाठसंशोधनके नियम पृ. १३)

उ के पश्चात् लुप्तवर्णके स्थानमें बहुधा व श्रुति पाई जाती है। जैसे—वालुवा-वालुकाः; बहुवं-बहुकं; विहुव-विधूत, आदि। किन्तु 'पज्जव' में विना उ के सामीप्यके भी नियमसे व श्रुति पाई जाती है।

८. वर्ण विकारके कुछ विशेष उदाहरण इस प्रकार पाये जाते हैं। सूत्रोंमें--अड्ढाइज्ज-अर्धतृतीय (१६३), अणियोग-अनुयोग (५); आउ-अप् (३९) इड्ढि-ऋद्धि (५९) ओधि, ओहि-अवधि (११५, १३१); ओरालिय-औदारिक (५६); छदुमत्थ-छद्मस्थ (१३२); तेउ-तेजस (३९); पज्जव-पर्याय (११५); मोस-मृषा (४९); वेंतर-व्यन्तर (९६); णेरइय-नारक, नारकी (२५); गाथाओंमें— इक्खय-इक्ष्वाकु (५०); उराल-उदार (१६०); इंगाल-अंगार (१५१); खेत्तण्हू-क्षेत्रज्ञ (५२); चाग-त्याग (९२); फड्ढय-स्पर्धक (१२१); सस्सेदिम-संस्वेदज (१३९)।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

गाथाओंमें आए हुए कुछ देशी शब्द इस प्रकार हैं—कायोली-वीवध (८८); घुम्मंत-प्रमत् (६३); चोक्खो-शुद्ध (२०७); णिमेण-आधार (७); भेज्ज-भीरु; (२०१); मेर-मात्रा, मर्यादा (९०).

टीकाके कुछ देशी शब्द---अल्लियइ-उपसर्पति (२२०); चडविय-आरूढ (२२१); छड्डिय त्यक्त्वा (२११); णिसुढिय-नत (६८); बोलाविय-व्यतीत्य (६८)।

इन थोडेसे उदाहरणोंपरसे ही हम सूत्रों, गाथाओं व टीकाकी भाषा के विषयमें कुछ निर्णय कर सकते है। यह भाषा मागधी या अर्धमागधी नहीं है, क्योंकि, उसमें न तो अनिवार्य रूपसे, और न विकल्पसे ही र के स्थान पर ल, व स के स्थानपर श पाया जाता, और न कर्ताकारक एकवचन में कहीं ए मिलता।

त के स्थानपर द, क्रियाओंके एकवचन वर्तमान कालमें दि व दे, पूर्वकालिक क्रियाओं-के रूपमें त्तु व दूण, अपादानकारककी विभक्ति दो तथा अधिकरणकारककी विभक्ति म्हि, क के स्थानपर ग, तथा थ के स्थानपर ध आदेश, तथा द और ध का लोपाभाव, ये सब शौरसेनीके लक्षण हैं। तथा त का लोप, क्रियाके रूपोंमें इ, पूर्व कालिक क्रियाके रूपमें ऊण, ये महाराष्ट्रीके लक्षण हैं। ये दोनों प्रकारके लक्षण सूत्रों, गाथाओं व टीका सभीमें पाये जाते हैं। सूत्रोंमें जो वर्णविकारके विशेष उदाहरण पाये जाते हैं वे अर्धमागधीकी ओर संकेत करते हैं। अतः कहा जा सकता है कि सूत्रों, गाथाओं व टीकाकी भाषा शौरसेनी प्राकृत है, उसपर अर्धमागधी का प्रभाव है, तथा उसपर महाराष्ट्रीका भी संस्कार पडा है। ऐसी हीं भाषाको पिशेल आदि पाश्चमिक विद्वानोंने जैन शौरसेनी नाम दिया है।

---

१ अवर्णो य श्रुतिः (८, १, १८०,) टीका—क्वचिद् भवति, पियइ ॥ १८० ॥

२ डॉ उपाध्ये; प्रवचनसारकी भूमिका, पृ. ११५

सूत्रोंमें अर्धमागधी वर्णविकार का बाहुल्य है । सूत्रोंमें एक मात्र क्रिया 'अत्थि' आती है और वह एकवचन व बहुवचन दोनोंकी बोधक है । यह भी सूत्रोंके प्राचीन आर्ष प्रयोग का उदाहरण है ।

गाथाएं प्राचीन साहित्यके भिन्न भिन्न ग्रंथोंकी भिन्न भिन्न कालकी रची हुई अनुमान की जा सकती हैं । अतएव उनमें शौरसेनी व महाराष्ट्रीपनकी मात्रामें भेद है । किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि भाषा जितनी अधिक पुरानी है उतना उसमें शौरसेनीपन अधिक है और
मार्गदर्शक — आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज
जितनी अर्वाचीन है उतना महाराष्ट्रीपन । महाराष्ट्रीका प्रभाव साहित्यमें पीछे पीछे अधिकाधिक पड़ता गया है । उदाहरणके लिये प्रस्तुत ग्रंथ की गाथा नं० २०३ लीजिये जो यहां इस प्रकार पाई जाती है—

रूसदि णिंददि अण्णे दूसदि बहुसो य सोय-भय-बहुलो ।
असुयदि परिभवदि परं पसंसदि अप्पयं बहुसो ॥

इसी गाथाने **गोम्मटसार** (जीवकांड ५१२) में यह रूप धारण कर लिया है—

रूसइ णिंदइ अण्णे दूसइ बहुसो य सोय-भय-बहुलो ।
असुयइ परिभवइ परं पसंसए अप्पयं बहुसो ॥

यहांकी गाथाओंका गोम्मटसारमें इस प्रकारका महाराष्ट्री परिवर्तन बहुत पाया जाता है। किन्तु कहीं कहीं ऐसा भी पाया जाता है कि जहां इस ग्रंथमें महाराष्ट्रीपन है वहां गोम्मटसारमें शौरसेनीपन स्थिर है । यथा, गाथा २०७ में यहां '**खमइ बहुअं हि**' है वहां गो. जी. ५१६ में '**खमदि बहुगं पि**' पाया जाता है । गाथा २१० में यहां '**एय-णिगोद**' है, किन्तु गोम्मटसार १९६ में उसी जगह '**एग-णिगोद**' है । ऐसे स्थलोंपर गोम्मटसारमें प्राचीन पाठ रक्षित रह गया प्रतीत होता है । इन उदाहरणोंसे यह भी स्पष्ट है कि जबतक प्राचीन ग्रंथोंकी पुरानी हस्तलिखित
प्रतीत होता है । इन उदाहरणोंसे यह भी स्पष्ट है कि जबतक प्राचीन ग्रंथोंकी पुरानी हस्तलिखित
प्रतियोंकी सावधानीसे परीक्षा न की जाय और यथेष्ट उदाहरण सन्मुख उपस्थित न हों तबतक इनकी भाषाके विषयमें निश्चयतः कुछ कहना अनुचित है ।

टीका का प्राकृत गद्य प्रौढ, मुहावरेदार और विषयके अनुसार संस्कृतकी तर्कशैलीसे प्रभावित है । सन्धि और समासोंका भी यथास्थान बाहुल्य है । यहां यह बात उल्लेखनीय है कि सूत्र-ग्रंथोंको या स्फुट छोटी मोटी खंड रचनाओंको छोडकर दिगम्बर साहित्यमें अभीतक यही एक ग्रंथ ऐसा प्रकाशित हो रहा है जिसमें साहित्यिक प्राकृत गद्य पाया जाता है । अभी इस गद्यका बहुत बड़ा भाग आगे प्रकाशित होनेवाला है। अतः ज्यों ज्यों वह साहित्य सामने आता जायगा त्यों त्यों इस प्राकृतके स्वरूपपर अधिकाधिक प्रकाश डालनेका प्रयत्न किया जायगा ।

इसी कारण ग्रंथकी संस्कृत भाषाके विषयमें भी अभी हम विशेष कुछ नहीं लिखते । केवल इतना सूचित कर देना पर्याप्त समझते हैं कि ग्रंथकी संस्कृत शैली अत्यन्त प्रौढ, सुपरिमार्जित और न्यायशास्त्रके ग्रंथोंके अनुरूप है । हम अपने पाठ-संशोधन के नियमोंमें कह

आये हैं कि प्रस्तुत ग्रंथमें **अरिहंत:** शब्द अनेकबार आया है और उसकी निरुक्ति भी अरिहननाद् अरिहंत: आदि की गई है। संस्कृत व्याकरणके नियमानुसार हमें यह रूप विचारणीय ज्ञात हुआ। **अर्ह्** धातुसे बना **अर्हत्** होता है और उसके एकवचन व बहुवचनके रूप क्रमश: **अर्हन्** और **अर्हन्तः** होते हैं। यदि **अरि+हन्** से कर्तावाचक रूप बनाया जाय तो **अरिहन्तृ** होगा जिसके कर्ता एकवचन व बहुवचन रूप **अरिहन्ता** और **अरिहन्तारः** होना चाहिये। चूंकि यहां व्युत्पत्तिमें अरिहननात् कहा गया है अत: अर्हन् व अर्हन्तः शब्द ग्रहण नहीं किया जा सकता। हमने प्रस्तुत ग्रंथमें अरिहन्ता कर दिया है, किन्तु है यह प्रश्न विचारणीय कि संस्कृतमें **अरिहन्तः** जैसा रूप रखना चाहिये या नहीं। यदि हम **हन्** धातुसे बना हुआ '**अरिहा**' शब्द ग्रहण करें और पाणिनि के '**मघवा बहुलम्**' सूत्रका इस शब्दपर भी अधिकार चलावें तो बहुवचनमें अरिहन्तः हो सकता है। संस्कृतभाषा की प्रगतिके अनुसार यह भी असंभव नहीं है कि यह अकारान्त शब्द **अर्हत्** के प्राकृत रूप **अरहंत, अरिहंत, अरुहंत** परसे ही संस्कृतमें रूढ़ हो गया हो। विद्वानोंका मत है कि **गोविन्द** शब्द संस्कृतके **गोपेन्द्र** का प्राकृत रूप है[1]। किन्तु पीछे से संस्कृतमें भी वह रूढ हो गया और उसीकी व्युत्पति संस्कृतमें दी जाने लगी। उस अवस्थामें अरिहन्तः शब्द अकारान्त जैन संस्कृतमें रूढ माना जा सकता है। वैयाकरणोंको इसका विचार करना चाहिये।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

उपसंहार.

अन्तिम तीर्थंकर श्रीमहावीरस्वामीके वचनोंकी उनके प्रमुख शिष्य **इन्द्रभूति गौतमने द्वादशांग श्रुतके** रूपमें ग्रंथ रचना की जिसका ज्ञान आचार्य परम्परासे क्रमश: कम होते हुए **धरसेनाचार्य**तक आया। उन्होंने बारहवें अंग दृष्टिवादके अन्तर्गत **पूर्वों**के तथा पाचवें अंग **व्याख्याप्रज्ञप्ति**के कुछ अंशोंको **पुष्पदन्त** और **भूतबलि** आचार्योंको पढ़ाया। और उन्होंने वीर निर्वाण के पश्चात् ७ वीं शताब्दिके लगभग सत्कर्मपाहुडकी छह हजार सूत्रोंमें रचना की। इसीकी प्रसिद्धि **षट्खंडागम** नामसे हुई। इसकी टीकाएं क्रमश: **कुन्दकुन्द, शामकुंड, तुम्बुलूर, समन्तभद्र** और **बप्पदेवने** बनाई, ऐसा कहा जाता है, पर ये टीकाएं अब मिलती नहीं हैं। इनके अन्तिम टीकाकार **वीरसेनाचार्य** हुए जिन्होंने अपनी सुप्रसिद्ध टीका **धवला**की रचना शक ७३८ कार्तिक शुक्ल १३ को पूरी की। यह टीका ७२ हजार श्लोक प्रमाण है।

षट्खंडागमका छठवां खंड **महाबंध** है। जिसकी रचना स्वयं भूतबलि आचार्यने बहुत विस्तारसे की थी। अतएव पंचिकादिकको छोड़ उसपर विशेष टीकाएं नहीं रची गई। इसी महाबंधकी प्रसिद्धि **महाधवल**के नामसे है जिसका प्रमाण ३० या ४० हजार कहा जाता है।

धरसेनाचार्यके समयके लगभग एक और आचार्य **गुणधर** हुए जिन्हें भी द्वादशांग श्रुतका कुछ ज्ञान था। उन्होंने **कषायप्राभृत**की रचना की। इसका **आर्यमंक्षु** और **नागहस्तिने** व्याख्यान किया और **यतिवृषभ** आचार्यने चूर्णिसूत्र रचे। इसपर भी **वीरसेनाचार्यने** टीका

१ Keith: History of Sans. Lit., p. 24.

लिखी। किन्तु वे उसे २० हजार प्रमाण लिखकर ही स्वर्गवासी हुए। तब उनके सुयोग्य शिष्य **जिनसेनाचार्य**ने ४० हजार प्रमाण और लिखकर उसे शक ७५९ में पूरा किया। इस टीकाका नाम **जयधवला** है और वह ६० हजार श्लोक प्रमाण है।

इन दोनों या तीनों महाग्रंथोंकी केवल एकमात्र प्रति ताड़पत्रपर शेष रही थी जो सैकडों वर्षोंसे **मूडबिद्रीके भंडारमें** बन्द थी। गत २०।२५ वर्षोंमें उनमेंसे धवला व जयधवलाकी प्रतिलिपियां किसी प्रकार बाहर निकल पाई हैं। महाबंध या महाधवल अब भी दुष्प्राप्य है। उनमेंसे धवलाके प्रथम अंशका अब प्रकाशन हो रहा है। इस अंशमें द्वादशांगवाणी व ग्रंथ रचनाके इतिहासके अतिरिक्त सत्प्ररूपणा अर्थात् जीवसमासों और मार्गणाओं का विशेष विवरण है। **सूत्रोंकी भाषा पूर्णतः प्राकृत है।** टीकामें जगह जगह उद्धृत पूर्वाचार्योंके **पद्य २२१** हैं जिनमें केवल **१७ संस्कृतमें** और शेष **प्राकृतमें** हैं. टीकाका कोई तृतीयांश **प्राकृतमें** और शेष संस्कृतमें है। यह सब प्राकृत प्रायः वही **शौरसेनी** है जिसमें कुन्दकुन्दादि आचार्योंके ग्रंथ रचे पाये जाते हैं। प्राकृत और संस्कृत दोनोंकी शैली अत्यंत सुन्दर, परिमार्जित और **प्रौढ** है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

टिप्पणियोंमें उल्लिखित ग्रंथोंकी

संकेत–सूची

संकेत	ग्रंथ नाम
१ अनु. सू.	अनुयोगद्वारसूत्र
२ अभि. रा. को.	अभिधानराजेन्द्रकोष
३ अलं. चि.	अलङ्कारचिन्तामणि
४ अष्टश.	अष्टशती
५ अष्टस.	अष्टसहस्री
६ आचा. नि.	आचाराङ्ग-निर्युक्ति
७ आ. नि.	आवश्यक-निर्युक्ति
८ आ. पा.	आलापपद्धति
९ आ. पु.	आदिपुराण
१० आ. मी.	आप्तमीमांसा
११ इन्द्र. श्रुता.	इन्द्रनन्दिश्रुतावतार
१२ उत्त.	उत्तराध्ययन
१३ औप. सू.	औपपातिकसूत्र
१४ क. ग्रं.	कर्मग्रंथ
१५ क. प्र.	कर्मप्रकृति
१६ क. प्र. य. उ. टी.	कर्मप्रकृति यशोविजय उपाध्यायकृत वि. टी.
१७ कसायपाहुडचुण्णि	(लिखित)
१८ गुण. क्र. प्र.	गुणस्थान–क्रमारोह-प्रकरण
१९ गो. क.	गोम्मटसार कर्मकांड
२० गो. जी.	,, जीवकांड
२१ गो. जी. जी. प्र., टी.	गोम्मटसार जीवकांड जीवतत्त्वप्रदीपिका टीका.
२२ गो. जी., मं. प्र., टी.	गो० जी० मंदप्रबोधिनी टीका.
२३ जयध.	जयधवला (लिखित)
२४ जी. द. सू.	जीवट्ठाण दव्वाणिओगद्दार सुत्त
२५ जी. वि. प्र.	जीवविचारप्रकरण
२६ जी. सं. सू.	जीवट्ठाण संतपरूवणा सुत्त
२७ ज्यो. क.	ज्योतिष्करण्डक सटीक
२८ णाया सू.	णायाधम्मकहासुत्त
२९ तत्त्वार्थ भा.	तत्त्वार्थभाष्य (श्वे.)
३० त. रा. वा.	तत्त्वार्थराजवार्तिक
३१ त. श्लो. वा.	तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक
३२ त. सू.	तत्त्वार्थसूत्र
३३ ति. प.	तिलोयपण्णत्ति
३४ द. भ.	दशभक्ति
३५ द. वै.	दशवैकालिक
३६ देशीना.	देशीनाममाला
३७ द्र. सं. वृ.	द्रव्यसंग्रहवृत्ति
३८ धवला.	धवला (लिखित)
३९ न. च.	नयचक्र
४० न्या. कु. च.	न्यायकुमुदचन्द्र
४१ नं. सू.	नन्दिसूत्र
४२ पञ्चसं.	पञ्चसंग्रह (दि.)
४३ पञ्चा.	पञ्चास्तिकाय
४४ पञ्चाध्या.	पञ्चाध्यायी
४५ पञ्चा. वि.	पञ्चाशक सटीक वि.
४६ प. मु.	परीक्षामुख
४७ पा. उ.	पाणिनि उणादि
४८ पात. महाभा.	पातञ्जल महाभाष्य
४९ पु. सि.	पुरुषार्थसिद्ध्युपाय
५० पं. सं.	पंचसंग्रह (श्वे.)
५१ प्र. क. मा.	प्रमेयकमलमार्तंड
५२ प्रज्ञा. सू.	प्रज्ञापना सूत्र
५३ प्रमाणनयत.	प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

संकेत	ग्रंथ नाम
५४ प्रमाणमी.	प्रमाणमीमांसा (श्वे.)
५५ प्रवच.	प्रवचनसार
५६ प्र. सा. पू.	प्रवचनसारोद्धार पूर्वार्ध
५७ बा. अ.	बारस अणुवेक्खा
५८ बृ. क. सू.	बृहत्कल्पसूत्र
५९ बृ. स्व. स्तो.	बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र
६० ब्र. श्रु.	ब्रह्महेमचन्द्र श्रुतस्कंध
६१ भग. गी.	भगवद्गीता
६२ भग. सू.	भगवती सूत्र
६३ मु.	मूलप्रथम आवृत्ति
६४ मूलाचा.	मूलाचार
६५ मूलारा.	मूलाराधना (भगवती आराधना)
६६ रत्नक.	रत्नकरण्ड श्रावकाचार
६७ ल. क्ष.	लब्धिसार क्षपणासार
६८ लघीय.	लघीयस्त्रय
६९ „ स्वो. वृ. लि.	„ स्वोपज्ञवृत्ति लिखित
७० लो. प्र.	लोकप्रकाश
७१ वि. भा.	विशेषावश्यक भाष्य
७२ स. त.	सन्मतितर्क
७३ स. त. टी.	सन्मतितर्क टीका
७४ स. त. सू.	सभाष्यतत्वार्थाधिगम-सूत्र
७५ स. सि.	सर्वार्थसिद्धि
७६ सम. सू.	समावायाङ्गसूत्र
७७ स्था. सू.	स्थानाङ्गसूत्र
७८ ह. पु.	हरिवंशपुराण

विषय–सूची

१ — १–७३

मंगलाचरण

१ मंगलाचरण टीकाकारकृत — १
२ सूत्रकारकृत पंचपरमेष्ठी नमस्काररूप मंगलाचरण — ८
३ मंगल, निमित्त आदि छह अधिकारोंका प्रतिज्ञा — ९
४ मंगलका स्वरूप और विवेचन — १०
  १ नय-निरूपण — ११
  २ नयोंमें निक्षेपोंका अन्तर्भाव — १५
  ३ निक्षेप-निरूपण — १८
  ४ मंगलके पर्यायवाची नाम, निरुक्ति व अनुयोगद्वारोंसे कथन — ३३
  ५ छह दंडकोंद्वारा मंगल-निरूपण — ४०
  ६ सूत्रके मंगलत्व-अमंगलत्वका विवेचन — ४२
  ७ अरिहंतका शब्दार्थ और स्वरूप — ४३
  ८ सिद्धका " " — ४७
  ९ अर्हंत् और सिद्धमें भेदाभेद विवेचन — ४७
  १० आचार्यका शब्दार्थ और स्वरूप — ४९
  ११ उपाध्याय " " — ५१
  १२ साधु " " — ५२
  १३ आचार्यादि परमेष्ठियोंमें भी देवत्वकी सिद्धि — ५३
  १४ अरिहंतोंको प्रथम नमस्कार करनेका प्रयोजन — ५४
५ निमित्त–कथन — ५५
६ हेतु–कथन — ५६
  १ अभ्युदय सुखमें राजा, महाराजा, मंडलीक, महामंडलीक, नारायण, चक्रवर्ती और तीर्थंकरका स्वरूप — ५८
  २ नैःश्रेयस-सुख-कथन] — ५९
  ३ प्रकारान्तसे निमित्त और हेतुका कथन — ६१
७ ग्रंथ-परिमाण — ६१
८ ग्रंथ-नाम — ६१
९ कर्ता के भेदोंका निरूपण — ६१
  १ क्षेत्र-विशिष्ट अर्थकर्ता — ६२
  २ कालकी अपेक्षा अर्थकर्ता — ६३
  ३ भावकी अपेक्षा अर्थकर्ता — ६४
  ४ ग्रंथ-कर्ता — ६५
  ५ अंगधारियोंकी परम्परा — ६६
  ६ श्रुतावतार-वर्णन — ६८

२

जीवस्थानका अवतार — ७३–१३३

१० उपक्रम — ७३–८४
  १ आनुपूर्वीके तीन भेद — ७३
  २ नामके दश भेद — ७४
  ३ प्रमाणके पांच भेद — ८१
  ४ वक्तव्यताके तीन भेद — ८३
  ५ अर्थाधिकारके तीन भेद — ८३
११ निक्षेप-कथन — ८४
१२ नयनिरूपण — ८४–९२
  १ नयके दो भेद — ८४
  २ द्रव्यार्थिक नयका निरूपण — ८४
  ३ पर्यायार्थिक नयका निरूपण — ८६
१३ अनुगम–निरूपण — ९२–१३३
  १ प्रमाणानुगमके भेदोंका निरूपण — ९४
  २ श्रुतज्ञानके भेद-प्रभेदोंका स्वरूप — ९७
  ३ आग्रायणीय पूर्वके १४ अर्थाधिकार और जीवट्ठाण खंडके अन्तर्गताधिकारोंकी उत्पत्ति — १२४

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

३

विषयकी उत्थानिका १३३–१६०

१४ चौदह मार्गणाओंका सामान्य स्वरूप-निरूपण १३३–१५४

१ गतिमार्गणा १३५

२ इन्द्रियमार्गणा १३६

३ कायमार्गणा १३९

४ योगमार्गणा १४०

५ वेदमार्गणा १४१

६ कषायमार्गणा १४२

७ ज्ञानमार्गणा १४३

८ संयममार्गणा १४५

९ दर्शनमार्गणा १४६

१० लेश्यामार्गणा १५०

११ भव्यमार्गणा १५१

१२ सम्यक्त्वमार्गणा १५२

१३ संज्ञिमार्गणा १५३

१४ आहारमार्गणा १५३

१५ अनुयोगद्वारके आठों भेदोंका सोपपत्तिक निरूपण १५४

४

सत्प्ररूपणा १६०–४१०

१६ ओघ और आदेशकी प्रतिज्ञा तथा गुणस्थान-निरूपण १६०–२०१

१ मिथ्यादृष्टिगुणस्थान १६२

२ सासादनसम्यग्दृष्टि गुण. १६४

३ सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान १६७

४ असंयतसम्यग्दृष्टि ,, १७१

५ संयतासंयत ,, १७४

६ प्रमत्तसंयत ,, १७६

७ अप्रमत्तसंयत ,, १७९

८ अपूर्वकरण ,, १८०

९ अनिवृत्तिकरण ,, १८४

१० सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान १८८

११ उपशान्तकषाय ,, १८९

१२ क्षीणकषाय ,, १९०

१३ सयोगकेवली ,, १९१

१४ अयोगकेवली ,, १९३

१५ सयोगी और अयोगीके मनका अभाव होनेपर केवलज्ञानकी सयुक्तिक सिद्धि १९३

१६ सिद्धस्वरूप निरूपण २०१

१७ मार्गणाओंमें गुणस्थान-निरूपण २०२–४१०

१ गतिभेद-निरूपण २०२

२ नरकगतिमें गुणस्थान-प्रतिपादन २०५

३ तिर्यंचगतिमें ,, ,, २०८

४ मनुष्यगतिमें ,, ,, २११

५ उपशमविधि-निरूपण २११

६ क्षपणविधि ,, २१६

७ देवगतिमें गुणस्थान-निरूपण २२६

८ शुद्ध-तिर्यंचोंका ,, २२८

९ मिश्र-तिर्यंचोंका ,, २२९

१० मिश्र और शुद्ध मनुष्योंका निरूपण २३२

११ इन्द्रियमार्गणाके भेद २३३

१२ इन्द्रियोंके भेद-प्रभेदोंका स्वरूप २३३

१३ एकेन्द्रिय जीवोंके भेद २५१

१४ पर्याप्ति-निरूपण २५६

१५ पर्याप्ति और प्राणमें भेद २५८

१६ द्वीन्द्रियादि जीवोंके भेद २६०

१७ अपर्याप्त अवस्थामें मनका निराकरण २६१

१८ इन्द्रियमार्गणामें गुणस्थान-सत्त्व-प्रतिपादन २६३

१९ कायमार्गणाके भेद २६७

२० स्थावरकायिक जीवोंके भेद २६९

२१ त्रसकायिक जीवोंके भेद २७४

२२ कायमार्गणामें गुणस्थान-निरूपण २७६

२३ योगमार्गणाके भेद व स्वरूप २८०

मार्गदर्शक आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

२४ मनोयोगके भेद और उनमें गुणस्थान-निरूपण २८२
२५ वचनयोगके भेद " २८८
२६ काययोगके भेद " २९१
२७ केवलि-समुद्धात-विचार ३०२
२८ त्रिसंयोगी योगोंके स्वामी ३१०
२९ द्विसंयोगी और एकसंयोगी योगोंके स्वामी ३११
३० योगोंमें पर्याप्त व अपर्याप्त-विचार ३१२
३१ आदेशकी अपेक्षा गतिमार्गणामें पर्याप्त व अपर्याप्त विचार ३२४
३२ वेदमार्गणाके भेद व स्वरूप ३४२
३३ वेदमार्गणामें गुणस्थान-विचार ३४४
३४ आदेशकी अपेक्षा वेद–सत्त्व-प्रतिपादन [illegible]
३५ कषायमार्गणाके भेद व स्वरूप ३४९
३६ कषायमार्गणामें गुणस्थान-विचार ३५३
३७ ज्ञानमार्गणाके भेद व स्वरूप ३५५
३८ ज्ञानमार्गणामें गुणस्थान-विचार ३६२
३९ संयममार्गणाके भेद व स्वरूप ३७०
४० संयममार्गणामें गुणस्थान-विचार ३७६
४१ दर्शनमार्गणाके भेद व स्वरूप ३८०
४२ दर्शनमार्गणामें गुणस्थान-विचार ३८५
४३ लेश्यामार्गणाके भेद व स्वरूप ३८८
४४ लेश्यामार्गणामें गुणस्थान-विचार ३९२
४५ भव्यमार्गणाके भेद व स्वरूप ३९४
४६ भव्यमार्गणामें गुणस्थान-विचार ३९६
४७ सम्यक्त्वमार्गणाके भेद व स्वरूप ३९७
४८ सम्यक्त्वमार्गणामें गुणस्थान–विचार ३९८
४९ आदेशकी अपेक्षा सम्यक्त्व-सत्त्व प्रतिपादन ४०१
५० संज्ञिमार्गणाके भेद व स्वरूप ४१०
५१ संज्ञिमार्गणामें गुणस्थान विचार ४१०
५२ आहारमार्गणाके भेद और उसमें गुणस्थान-विचार ४११

संकलक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

मंगलाचरणम्

श्रीमत्परम-गम्भीर-स्याद्वादामोघ-लाञ्छनम् ।
जीयात् त्रैलोक्य-नाथस्य शासनं जिन-शासनम् ॥ १ ॥

सः श्रीमान् धरसेन-नाम-सुगुरुः श्रीजैन-सिद्धान्त-सद्-
वार्द्धिर्धुर्धर-पुष्पदन्त-सुमुनिः श्रीभूतपूर्वो बलिः ।
एते सन्मुनयो जगत्त्रय-हिताः स्वर्गामरैरर्चिताः
कुर्युर्मे जिनधर्म-कर्मणि मतिं स्वर्गापवर्गप्रदे ॥ २ ॥

श्रीवीरसेन इत्याप्त-भट्टारक-पृथु-प्रथः ।
स नः पुनातु पूतात्मा वादि-वृन्दारको मुनिः ॥ ३

धवलां भारतीं तस्य कीर्तिं च शुचि-निर्मलाम् ।
धवलीकृत-निःशेष-भुवनां तां नमाम्यहम् ॥ ४ ॥

भूयादावीरसेनस्य वीरसेनस्य शासनम् ।
शासनं वीरसेनस्य वीरसेन-कुशेशयम् ॥ ५ ॥

सिद्धानां कीर्तनादन्ते यः सिद्धान्त-प्रसिद्ध-वाक् ।
सोऽनाद्यनन्त-सन्तानः सिद्धान्तो नोऽवताच्चिरम् ॥ ६ ॥

---

१ श्रवणबेलगोल शिलालेख. नं. ३९ आदि । २ ब्रम्ह. नेमिदत्तकृत आराधनाकथाकोष. पृ. ३५९ । ३–४ संस्कृत महापुराण उत्थानिका । ५–६ जयधवलान्तर्गत ।